



आलापपद्धति

- देवसेनाचार्य

Index

गाथा / सूत्र	विषय
001)	आलापपद्धति का अर्थ
002)	प्रश्न
003)	आलापपद्धति का प्रयोजन
द्रव्याधिकार	
004)	प्रश्न
005)	द्रव्यों के नाम
006)	द्रव्य का लक्षण
007)	सत् का लक्षण
गुणाधिकार	
008)	द्रव्यों के लक्षण कौन-कौन से हैं ?
009)	सामान्य गुणों के नाम
010)	प्रत्येक द्रव्य के सामान्य गुण
011)	द्रव्यों के विशेष गुण
012)	जीव और पुद्गल के विशेष गुण
013)	धर्मादिक चार द्रव्यों के विशेष गुण
014)	कुछ गुण सामान्य भी और विशेष भी, कैसे?
पर्याय अधिकार	
015)	पर्याय और उसके भेद
016)	अर्थ-पर्याय के भेद
017)	स्वभाव अर्थ-पर्याय
018)	जीव की विभाव अर्थ-पर्याय
019)	जीव की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय
020)	जीव की विभाव गुण व्यंजन पर्याय
021)	जीव की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय
022)	जीव की स्वभाव-गुण-व्यंजन-पर्याय
023)	पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय
024)	पुद्गल की विभाव-गुण-व्यंजनपर्याय
025)	पुद्गल की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय
026)	पुद्गल की स्वभाव-गुण-व्यंजन-पर्याय
027)	प्रकारान्तर से द्रव्य, गुण व पर्याय का लक्षण
स्वभाव अधिकार	

028)	द्रव्यों के सामान्य व विशेष स्वभावों का कथन
029)	जीव और पुद्गल के भावों की संख्या
030)	धर्मादि तीन द्रव्यों में स्वभावों की संख्या
031)	काल-द्रव्य में स्वभावों की संख्या
032)	प्रश्न

प्रमाण अधिकार

033)	उत्तर
034)	प्रमाण का लक्षण
035)	प्रमाण के भेद
036)	एकदेश प्रत्यक्ष कितने
037)	सकल-प्रत्यक्ष कितने
038)	परोक्ष कितने

नय अधिकार

039)	नय की परिभाषा
040)	नय के भेद
041)	नय के भेद
042)	उपनयों का कथन
043)	उपनय
044)	उपनय के भेद
045)	नयों और उपनयों के भेद
046)	द्रव्यार्थिक-नय के भेद
047)	कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय
048)	(उत्पाद-व्यय गौण) सत्ताग्राहक शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय
049)	भेद-कल्पना-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय
050)	कर्मोपाधि-सापेक्ष अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय
051)	उत्पादव्यय-सापेक्ष अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय
052)	भेदकल्पना-सापेक्ष अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय
053)	अन्वय-सापेक्ष द्रव्यार्थिकनय
054)	स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय
055)	परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय
056)	परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय
057)	पर्यायार्थिक नय के छः भेद
058)	अनादि-नित्य पर्यायार्थिकनय
059)	सादि नित्यपर्यायार्थिकनय
060)	अनित्यशुद्ध पर्यायार्थिकनय
061)	नित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक-नय
062)	नित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक-नय
063)	अनित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिकनय
064)	नैगमनय के प्रकार

065)	भूत नैगम-नय
066)	भावि नैगम-नय
067)	वर्तमान नैगम-नय
068)	संग्रह-नय के प्रकार
069)	सामान्य संग्रहनय
070)	विशेष संग्रहनय
071)	व्यवहारनय के प्रकार
072A)	सामान्य-संग्रहभेदक व्यवहार-नय
072)	विशेष-संग्रहभेदक व्यवहारनय
073)	ऋजुसूत्रनय के प्रकार
074)	सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय
075)	स्थूल ऋजुसूत्रनय
076)	शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय
077)	शब्द नय
078)	समभिरूढ नय
079)	एवंभूत-नय
080)	उपनय के भेद
081)	सद्भूत व्यवहारनय के प्रकार
082)	शुद्ध-सद्भूत व्यवहारनय
083)	अशुद्ध-सद्भूत-व्यवहारनय
084)	असद्भूत-व्यवहारनय के प्रकार
085)	स्वजाति-असद्भूत-व्यवहार-उपनय
086)	विजाति-असद्भूत-व्यवहार उपनय
087)	स्वजाति-विजाति-असद्भूत-व्यवहार उपनय
088)	उपचरित असद्भूत व्यवहारनय के प्रकार
089)	स्वजात्युपचरितासद्भूत-व्यवहार-उपनय
090)	विजात्युपचरित-असद्भूत-व्यवहार उपनय
091)	स्वजातिविजात्युपचरित-असद्भूतव्यवहार उपनय

गुण-व्युत्पत्ति अधिकार

092)	गुण-पर्याय में अंतर
093)	गुण
094)	अस्तित्व गुण
095)	वस्तुत्व गुण
096)	द्रव्यत्व गुण
097)	सत्
098)	प्रमेयत्व गुण
099)	अगुरुलघु गुण
100)	प्रदेशत्व गुण
101)	चेतेनत्व
102)	अचेतनत्व

103)	जीव स्यात् रूपी अरूपी
104)	अमूर्तत्व
पर्याय-व्युत्पत्ति अधिकार	
105)	पर्याय
स्वभाव-व्युत्पत्ति अधिकार	
106)	अस्ति-स्वभाव
107)	नास्ति-स्वभाव
108)	नित्य-स्वभाव
109)	अनित्य-स्वभाव
110)	एक-स्वभाव
111)	अनेक-स्वभाव
112)	भेद-स्वभाव
113)	अभेद-स्वभाव
114)	भव्य-स्वभाव
115)	अभव्य-स्वभाव
116)	परम-स्वभाव
118)	स्वभाव गुण नहीं
119)	गुण स्वभाव हैं
120)	गुण द्रव्य हैं
121)	विभाव
122)	शुद्ध-अशुद्ध स्वभाव
123)	उपचरित-स्वभाव
124)	उपचरित-स्वभाव के भेद
125)	अन्य द्रव्यों में भी उपचरित-स्वभाव
126)	प्रश्न
एकान्त-पक्ष दोष	
127)	उत्तर
128)	सर्वथा असद्रूप मानने में दोष
129)	सर्वथा नित्य मानने में दोष
130)	सर्वथा अनित्य मानने में दोष
131)	सर्वथा एक में दोष
132)	सर्वथा अनेक में दोष
133)	सर्वथा भेद में दोष
134)	सर्वथा अभेद में दोष
135)	सर्वथा भव्य में दोष
136)	सर्वथा अभव्य में दोष
137)	सर्वथा स्वभाव में दोष
138)	सर्वथा विभाव में दोष

139)	सर्वथा चैतन्य में दोष
140)	सर्वथा में नियामकता दोषपूर्ण
141)	सर्वथा अचेतन में दोष
142)	सर्वथा मूर्त में दोष
143)	सर्वथा अमूर्तिक में दोष
144)	सर्वथा एकप्रदेश में दोष
145)	सर्वथा अनेक प्रदेशत्व में दोष
146)	सर्वथा शुद्धस्वभाव में दोष
147)	सर्वथा अशुद्ध-स्वभाव में दोष
148)	सर्वथा उपचरित-स्वभाव में दोष
149)	सर्वथा अनुपचरित में दोष

नय योजना

150)	अस्तिस्वभाव
151)	नास्ति-स्वभाव
152)	नित्य-स्वभाव
153)	अनित्य-स्वभाव
154)	एक-स्वभाव
155)	अनेक-स्वभाव
156)	भेद-स्वभाव
157)	अभेद-स्वभाव
158)	पारिणामिक
159)	जीव का चेतन-स्वभाव
160)	पुद्गल का चेतन-स्वभाव
161)	पुद्गल का अचेतन-स्वभाव
162)	जीव में अचेतन-स्वभाव
163)	पुद्गल में मूर्त-स्वभाव
164)	जीव का मूर्त-स्वभाव
165)	द्रव्यों का अमूर्त-स्वभाव
166)	पुद्गल का अमूर्त-स्वभाव
167)	द्रव्यों का एकप्रदेश-स्वभाव
168)	द्रव्यों का एकप्रदेश-स्वभाव
169)	द्रव्यों का नानाप्रदेश-स्वभाव
170)	कालाणु के नानाप्रदेश-स्वभाव नहीं
171)	कालाणु के उपचरित-स्वभाव नहीं
172)	पुद्गल का अमूर्त-स्वभाव
173)	स्वभाव विभाव
174)	शुद्ध-स्वभाव
175)	अशुद्ध-स्वभाव
176)	उपचरित-स्वभाव

प्रमाण लक्षण

177)	प्रमाण
178)	प्रमाण के प्रकार
179)	सविकल्प ज्ञान और उसके प्रकार
180)	निर्विकल्प-ज्ञान

नय का स्वरूप और भेद

181)	नय की परिभाषा
182)	नय के प्रकार

निक्षेप की व्युत्पत्ति

183)	निक्षेप और उसके प्रकार
------	------------------------

नय भेद व्युत्पत्ति

184)	द्रव्यार्थिक-नय
185)	शुद्ध-द्रव्यार्थिक-नय
186)	अशुद्ध-द्रव्यार्थिक-नय
187)	अन्वय-द्रव्यार्थिक-नय
188)	स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक-नय
189)	परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक-नय
190)	परमभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक-नय
191)	पर्यायार्थिक-नय
192)	अनादि-नित्य पर्यायार्थिक-नय
193)	सादि-नित्य पर्यायार्थिक-नय
194)	शुद्ध पर्यायार्थिक-नय
195)	अशुद्ध पर्यायार्थिक-नय
196)	नैगम-नय
197)	संग्रह-नय
198)	व्यवहार-नय
199)	ऋजुसूत्र-नय
200)	शब्द-नय
201)	समभिरूढ-नय
202)	एवंभूत-नय
203)	द्रव्यार्थिक-नय के भेद
204)	निश्चय-नय
205)	व्यवहार-नय
206)	सद्भूत व्यवहार-नय
207)	असद्भूत व्यवहार-नय
208)	उपचरित-असद्भूत व्यवहार-नय
209)	सद्भूत व्यवहार-नय

210)	असद्भूत व्यवहार-नय
211)	उपचार पृथक् नय नहीं
212)	उपचार कब ?
213)	सम्बन्ध के प्रकार
214)	अध्यात्म के नय
215)	भेद

अध्यात्म-नय

216)	विषय
217)	निश्चय-नय के प्रकार
218)	शुद्धनिश्चय-नय
219)	अशुद्ध निश्चय-नय
220)	व्यवहारनय के प्रकार
221)	सद्भूत व्यवहार-नय
222)	असद्भूत व्यवहार-नय
223)	सद्भूत व्यवहार-नय
224)	उपचरित सद्भूत व्यवहार-नय
225)	अनुपचरित सद्भूत व्यवहार-नय
226)	असद्भूत व्यवहार-नय के प्रकार
227)	उपचरितासद्भूत व्यवहार-नय
228)	अनुपचरितासद्भूत व्यवहार-नय

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्रीमद्-भगवत्देवसेनाचार्य-प्रणीत

श्री

आलापपद्धति

मूल संस्कृत सूत्र

आभार : पं रत्नचंद जी मुख्तार

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं,
पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-आलापपद्धति नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तारः श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तारः
श्री-गणधर-देवाः प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-देवसेनाचार्य विरचितं ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र आलापपद्धति नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूँथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर श्रीदेवसेनाचार्य द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

॥ श्रोतारः सावधान-तया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

गुणानां विस्तरं वक्ष्ये स्वभावनां तथैव च ।
पर्यायाणां विशेषेण नत्वा वीरं जिनेश्वरम् ॥१॥

अन्वयार्थ : [वीरं जिनेश्वर] विशेष रूप से मोक्ष लक्ष्मी को देने वाले वीर जिनेश्वर को अर्थात् श्री महावीर भगवान को [नत्वा] नमस्कार करके [अहं] मैं देवसेनाचार्य [गुणानां] द्रव्यगुणों के [तथैव च] और उसी प्रकार से [स्वभावना] स्वभावों के तथा [पर्यायाणां] पर्यायों के भी [विस्तरं] विस्तार को [विशेषेण] विशेष रूप से [वक्ष्ये] कहता हूँ ।

+ आलापपद्धति का अर्थ -

आलापपद्धतिर्वचनरचनाऽनुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते ॥१॥

अन्वयार्थ : वचनों की रचना के क्रम के अनुसार प्राकृतमय नयचक्र नामक शास्त्र के आधार पर से आलापपद्धति को (मैं देवसेनाचार्य) कहता हूँ ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

इस आलापपद्धति शास्त्र की रचना प्राकृत-नयचक्र ग्रंथ के आधार पर हुई है ।

+ प्रश्न -

सा च किमर्थम् ? ॥२॥

अन्वयार्थ : इस आलापपद्धति ग्रंथ की रचना किसलिये की गई है ?

+ आलापपद्धति का प्रयोजन -

द्रव्यलक्षणसिद्ध्यर्थं स्वभावसिद्ध्यर्थं च ॥३॥

अन्वयार्थ : द्रव्य के लक्षण की सिद्धि के लिये और पदार्थों के स्वभाव की सिद्धि के लिये इस ग्रंथ की रचना हुई है ।

द्रव्याधिकार

+ प्रश्न -

द्रव्याणि कानि ? ॥४॥

अन्वयार्थ : द्रव्य कौन हैं ?

+ द्रव्यों के नाम -

जीव-पुद्गल-धर्मधर्माकाश-काल-द्रव्याणि ॥५॥

अन्वयार्थ : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्यतार :

जीव द्रव्य राजयोगमयी अथवा चैतन्यमयी है । वह संसारी और मुक्त दो प्रकार का है । संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के है ।

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण जिसमें पाये जावें वह पुद्गल-द्रव्य है ।

जो जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों को चलने में सहकारी कारण हो, जिसके बिना जीव और पुद्गल की गति नहीं हो सकती, वह धर्म-द्रव्य है । जैसे, मछलियों के चलने में जल सहकारी कारण होता है -- जहां तक जल होता है वहीं तक मछलियों का गमन होता है । मछलियों में गमन की शक्ति होते हुए भी जल के अभाव में मछलियों का गमन नहीं होता है अर्थात् जल से आगे मछलियाँ पृथ्वी पर गमन नहीं कर सकती है । इसीलिये धर्म-द्रव्य का लक्षण गति-हेतुत्व कहा गया है । जहां तक धर्म-द्रव्य है, वहां तक ही लोकाकाश है । लोक और अलोक के विभाजन में धर्म-द्रव्य कारण है । कहा भी है -

लोयालोयविभेयं गमणं ठाणं च जाण हेदूहिं ।

जद णहु ताणं हेऊ किह लोयालोयववहारं ॥न.च.१३४॥

अर्थ – लोक और अलोक का भेद तथा गमन और ठहराना, ये सब बिना कारणों के नहीं हो सकते । यदि इनका कोई कारण न होता तो लोक-अलोक व्यवहार कैसे होता ?

जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहकारी कारण हो वह अधर्म-द्रव्य है । जैसे, पथिक को ठहरने में छाया सहकारी कारण है । इसके प्रदेश भी धर्म-द्रव्य के समान है ।

जो समस्त द्रव्यों को अवगाहन देवे वह आकाश द्रव्य है । क्षेत्र की अपेक्षा आकाश-द्रव्य सब द्रव्यों से बड़ा है, सर्वे-व्यापी है, इसलिए यह समस्त द्रव्यों को अवकाश देने में समर्थ है । अन्य द्रव्य भी परस्पर अवगाहन देते हैं, किन्तु सर्व-व्यापी नहीं होने से वे समस्त द्रव्यों को अवगाहन नहीं दे सकते, इसीलिये अवगाहन-हेतुत्व आकाश-द्रव्य का लक्षण कहा गया है । धर्म-द्रव्य के अभाव के कारण अलोकाकाश में कोई द्रव्य नहीं जाता है । इसलिये वह किसी को अवगाहन नहीं देता है । फिर भी उसमें अवगाहन दान की शक्ति है । इस प्रकार अलोकाकाश में भी अवगाहन-हेतुत्व लक्षण घटित हो जाता है । इससे, कार्य होने पर ही निमित्त कारण कहलाता है, इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है । निमित्त अपने कारणपने की शक्ति से निमित्त कहलाता है ।

जो द्रव्यों के वर्तन में सहकारी कारण हो वह काल-द्रव्य है । काल के अभाव में पदार्थों का परिणमन नहीं होगा । परिणमन न हो तो द्रव्य व पर्याय भी न होगी । सर्व शून्य का

प्रसंग आयेगा ।

+ द्रव्य का लक्षण -

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥६॥

अन्वयार्थ : सत् द्रव्य का लक्षण है ।

+ सत् का लक्षण -

उत्पादव्ययध्रौव्युक्तं सत् ॥७॥

अन्वयार्थ : जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के वश से जो नवीन अवस्था उत्पन्न होती है उसे उत्पाद कहते हैं । जैसे, मिट्टी के पिण्ड की घट पर्याय । पूर्व अवस्था के नाश को व्यय कहते हैं । जैसे, घट की उत्पत्ति होने पर पिण्ड प्राकृति का व्यय । अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है, उसका व्यय और उत्पाद नहीं होता किन्तु 'घुवरूप से' स्थिर रहता है इसलिये इसे घुव कहते हैं । जैसे, पिण्ड और घट अवस्था में मिट्टी का अन्वय बना रहता है । (स.सि.) ।

गुणाधिकार

+ द्रव्यों के लक्षण कौन-कौन से हैं ? -

लक्षणानि कानि ? ॥८॥

अन्वयार्थ : द्रव्यों के लक्षण कौन-कौन से हैं ?

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

लक्षण, शक्ति, धर्म, स्वभाव, गुण और विशेष ये सब एक 'गुण रूप' अर्थ के वाचक हैं ।

व्यतिकीर्ण - वस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम् ॥न्या.दी./१/३/५/९॥

अर्थ – मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को पृथक् करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं ।

परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम् ॥रा.वा./२/८/२/११९/६॥

अर्थ – परस्पर सम्मिलित वस्तुओं से जिसके द्वारा किसी वस्तु का पृथक्करण हो वह उसका लक्षण होता है ।

किं लक्षणं । जस्साभावे दव्वस्साभावो होदि तं तस्स लक्षणं, जहा पोगलदव्वस्स रूव-रस-गंध-फासा, जीवस्स उवजोगो ॥ध./७/२,१,५५/९६/३॥

जिसके अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जाता है, वही उस द्रव्य का लक्षण है। जैसे - पुद्गल द्रव्य का लक्षण रूप, रस, गन्ध और; जीव का उपयोग ।

+ सामान्य गुणों के नाम -

अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरूलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वमचेतनत्वं, मूर्तत्वममूर्तत्वं, द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः ॥९॥

अन्वयार्थ : अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरूलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, और अमूर्तत्व ये द्रव्यों के दस सामान्य गुण हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

**दव्वाणं सहभूदा सामण्णविसेसदो गुणा णेया ।
सव्वेसिं सामण्णा दह भणिया सोलस विसेसा ॥११॥
अत्थित्तं वत्थुत्तं दव्वत्त पमेयत्त अगुरूलहुगुत्तं ।
देसत्त चेदणिदरं मुत्तममुत्तं वियाणेह ॥प्रा.न.च.१२॥**

जो द्रव्य के सहभावी हों उन्हें गुण कहते हैं । वे गुण दो प्रकार के हैं -- सर्व द्रव्यों में पाए जाने वाले सामान्य गुण दस और विशेष गुण सोलह होते हैं । अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरूलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये दस सामान्य गुण जानने चाहिये ।

एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करे, उसे गुण कहते हैं । (सूत्र ९२-९६)

यद्यपि ग्रन्थकार स्वयं इन गुणों का स्वरूप आगे सूत्र ९४-१०४ कहेंगे तथापि पाठकों की सुविधा के लिये उनका स्वरूप यहां पर भी दिया जाता है ।

- जिस द्रव्य को जो स्वभाव प्राप्त है, उस स्वभाव से च्युत न होना **अस्तित्व** गुण है । (सूत्र १०६)
- सामान्य-विशेषात्मक वस्तु होती है । उस वस्तु का जो भाव वह **वस्तुत्व** है । (सूत्र १५)
- जो अपने प्रदेश-समूह के द्वारा अखण्डपने से अपने स्वभाव व विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है, वह द्रव्य है । उस द्रव्य का जो भाव, वह द्रव्यत्व है । अथवा, वस्तु के सामान्यपने को **द्रव्यत्व** कहते हैं, क्योंकि वह सामान्य ही विशेषों को प्राप्त होता है । (सूत्र १६)
- जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी भी प्रमाण (ज्ञान) का विषय अवश्य होता है वह **प्रमेयत्व** गुण है । (सूत्र १८)
- जो सूक्ष्म, वचन के अगोचर, प्रति-समय परिणमन-शील और आगम-प्रामाण्य से जाना जाता है, वह **अगुरूलघु** गुण है । (सूत्र १९)
- जिसके निमित्त से द्रव्य क्षेत्रपने को प्राप्त हो वह **प्रदेशत्व** गुण है । एक अविभागी पुद्गल परमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं । (सूत्र १००)
- अनुभूति का नाम चेतना है । जिस शक्ति के निमित्त से स्व-पर की अनुभूति अर्थात् प्रतिभासकता होती है वह **चेतना** गुण है । (सूत्र १०१)
- जड़पने को अचेतन कहते हैं, अननुभवन सो अचेतनता है । चेतना का अभाव सो **अचेतनत्व** है । (सूत्र १०२)

रूपादिपने को अर्थात् स्पर्श-रस-गन्ध और वर्णपने की **मूर्तत्व** कहते हैं । (सूत्र १०३)

- स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण इनसे रहितपना **अमूर्तत्व** है । (सूत्र १०४)

ये गुण एक से अधिक द्रव्यों में पाये जाते हैं इसलिये ये सामान्य गुण हैं । चेतनत्व भी सर्व जीवों में पाया जाता है इसलिये सामान्य गुण है । मूर्तत्व भी सर्व पुद्गलों में पाया जाता है इसलिये सामान्य गुण है । जीव के अतिरिक्त अन्य पांच द्रव्य अचेतन हैं और जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अमूर्तिक हैं, इसलिये अचेतनत्व और अमूर्तत्व भी सामान्य (साधारण) गुण हैं ।

प्रश्न – चेतनत्व और मूर्तत्व सामान्य गुण कैसे हैं ?

उत्तर – जीव और पुद्गल यदि एक एक होते तो शंका ठीक थी । किन्तु जीव भी अनन्त हैं और पुद्गल भी अनन्त हैं । अतः स्वजाति की अपेक्षा चेतनत्व व मूर्तत्व सामान्य गुण हैं ।

+ प्रत्येक द्रव्य के सामान्य गुण -

प्रत्येकमष्टौ सर्वेषाम् ॥१०॥

अन्वयार्थ : सभी (द्रव्यों) में प्रत्येक में आठ-आठ (सामान्य) गुण हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

जीव द्रव्य में अचेतनत्व और मूर्तत्व ये दो गुण नहीं हैं । पुद्गल द्रव्य में चेतनत्व और अमूर्तत्व ये दो गुण नहीं हैं । धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य और काल-द्रव्य इन चार द्रव्यों में चेतनत्व और मूर्तत्व ये दो गुण नहीं हैं । इस प्रकार दो-दो गुणों को छोड़कर प्रत्येक द्रव्य में आठ-आठ गुण होते हैं । जीव में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये आठ गुण होते हैं ।

पुद्गल द्रव्य में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व ये आठ गुण होते हैं ।

धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल-द्रव्य इन चार द्रव्यों में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व ये आठ गुण होते हैं ।

अब द्रव्यों के विशेष-गुणों को बतलाते हैं --

+ द्रव्यों के विशेष गुण -

**ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगन्धवर्णाः गतिहेतुत्वं
स्थितिहेतुत्वमवगाहनहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं
द्रव्याणां षोडश विशेषगुणाः ॥११॥**

अन्वयार्थ : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श रस, गन्ध, वर्ण, गति-हेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व, अवगाहन-हेतुत्व, वर्तना-हेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये द्रव्यों के सोलह विशेष गुण हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

- जिस शक्ति के द्वारा आत्मा पदार्थों को साकार जानता है, सो **ज्ञान** है ।

भुतार्थ का प्रकाश करने वाला ज्ञान होता है । अथवा सद्भाव के निश्चय करने वाले धर्म को ज्ञान कहते हैं ।

**जाणइ तिकालविसए, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।
पच्चक्खं च परोक्खं, अणेण णाणं ति णं बेत्ति ॥गो.जी.२९९॥**

अर्थ – जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक भूत भविष्यत् वर्तमान काल संबंधी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको

ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं - प्रत्यक्ष, परोक्ष। बहिर्मुख चित्-प्रकाश को ज्ञान माना है।

- अन्तर्मुख चित् (चैतन्य) दर्शन है। जो आलोकन करता है, वह आलोक या आत्मा हैं तथा वर्तन अर्थात् व्यापार सो वृत्ति है। आलोकन अर्थात् आत्मा की वृत्ति (व्यापार) सो आलोकन-वृत्ति या स्व-संवेदन है और वही दर्शन है। यहाँ पर 'दर्शन' शब्द से लक्ष्य का निर्देश किया है। अथवा प्रकाश-वृत्ति दर्शन है। 'प्रकाश' ज्ञान है। उस प्रकाश (ज्ञान) के लिए जो आत्मा का व्यापार सो प्रकाश-वृत्ति है और वही दर्शन है। विषय और विषयी के योग्य देश में होने की पूर्वावस्था दर्शन है।

**जं सामण्णं ग्रहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णदे समये ॥गो.जी.४८२॥**

सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थों को अलग-अलग भेदरूप से ग्रहण नहीं करके जो सामान्य ग्रहण (आत्मग्रहण) अर्थात् स्व-रूप (निजरूप) मात्र का अवभासन होता है उसको परमागम में दर्शन कहा है। अथवा, सामान्य अर्थात् आत्मा के ग्रहण को दर्शन कहते हैं।

- जो स्वाभाविक भावों के आवरण के विनाश होने से आत्मीक शान्तरस अथवा आनन्द उत्पन्न होता है वह **सुख** है। सुख का लक्षण अनाकुलता है। स्वभाव प्रतिघात का अभाव सो सुख है। मोहनीय-कर्म के उदय से इच्छारूप आकुलता उत्पन्न होती है सो ही दुख है। मोहनीय-कर्म के नाश होने से आकुलता का भी अभाव हो जाता है और आत्मीक परम-आनन्द उत्पन्न होता है, वही सुख है।
- **वीर्य** का अर्थ शक्ति है। वीर्य, बल और शुक्र ये सब एकार्थक शब्द है। जीव की शक्ति को वीर्य कहते हैं। आत्मा में अनन्त वीर्य है किन्तु अनादि काल से उस अनन्त शक्ति को वीर्यान्तराय कर्म ने घात रखा है। उसके क्षयोपशम से कुछ वीर्य प्रकट होता है।
- जो स्पर्श किया जाता है वह **स्पर्श** है। कोमल, कठोर, हल्का, भारी, ठंडा, गर्म, स्निग्ध, रूक्ष के भेद से **स्पर्श** आठ प्रकार का है। और
- जो स्वाद का प्राप्त होता है वह **रस** है। तीखा, कडुआ, खट्टा, मीठा, और कसैला के भेद से **रस** पाँच प्रकार का है।
- जो सूँघा जाता है वह **गन्ध** है। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से दो प्रकार की गन्ध है।
- जो देखा जाता है वह **वर्ण** है। काला, नीला, पीला, सफेद और लाल के भेद से वर्ण पाँच प्रकार का है। ये स्पर्श आदि के मूल भेद हैं। वैसे प्रत्येक के संख्यात असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।
- जीव और पुद्गलों को गमन में सहकारी होना **गति-हेतुत्व** है।
- जीव और पुद्गलों को ठहरने में सहकारी होना **स्थिति-हेतुत्व** है।
- समस्त द्रव्यों को अवकाश देना **अवगाहन-हेतुत्व** है।

- समस्त द्रव्यों के वर्तन में सहकारी होना **वर्तना-हेतुत्व** है ।
- चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व का स्वरूप सूत्र ९ की टीका में कहा जा चुका है ।

चेतनत्व सर्व जीवों में पाया जाता है इसलिये इसको सामान्य गुणों में कहा है । किन्तु पुद्गल आदि द्रव्यों में नहीं पाया जाता इसलिये इसे विशेष गुणों में कहा है । अचेतनत्व पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों में पाया जाता है इसलिये सामान्य गुणों में कहा है, किन्तु जीव-द्रव्य में नहीं पाया जाता इसलिये विशेष गुणों में भी कहा है । मूर्तत्व सर्व पुद्गल द्रव्यों में पाया जाता है इसलिये सूत्र ९ में सामान्य गुणों में कहा है, किन्तु जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों में नहीं पाया जाता है इसलिये विशेष गुण कहा है । इसी प्रकार अमूर्तत्व गुण जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों में पाया जाता है इसलिये सूत्र ९ में सामान्य गुण कहा है किन्तु पुद्गल-द्रव्य में नहीं पाया जाता इसलिए विशेष-गुण कहा है । (देखो सूत्र १४) प्राकृत नयचक्र में इन विशेष गुणों का कथन निम्न प्रकार है --

**णाणदंसण सुह सत्ति रूवरस गंध फास गमणठिदी ।
वट्टणगाहणहेउमुतममुत्तं खु चेदणिदरं च ॥१३॥
अट्ट चट्ट णाणदंसणभेया सत्तिसुहस्स इह दो दो ।
वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ट णायव्वा ॥प्रा.न.च.१४॥**

अर्थ – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गमन-हेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व, वर्तना-हेतुत्व, अवगाहन-हेतुत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, ये द्रव्यों के विशेष गुण हैं । ज्ञान के आठ, दर्शन गुण के चार, वीर्य और सुख के दो-दो, रूप / वर्ण और रस के पांच, गन्ध के दो और स्पर्श के आठ भेद जानने चाहिए ।

क्षयोपशमिकी शक्तिः क्षायिकीं चेति शक्तेद्वौ भेदौ ॥न.च.वृ./१४.टि.॥

अर्थ – शक्ति के दो भेद हैं - क्षायोपशमिकी शक्ति और क्षायिकी शक्ति ।

सुख दो प्रकार का - इन्द्रिय-जनित और अतीन्द्रिय सुख ।

+ जीव और पुद्गल के विशेष गुण -

प्रत्येकं जीव पुद्गलयोः षट् ॥१२॥

अन्वयार्थ : सोलह प्रकार के विशेष गुणों में से जीव और पुद्गल में छः-छः विशेष गुण पाये जाते हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जीव द्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व के छः विशेष गुण पाये जाते हैं ।

पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, मूर्तत्व, और अचेतनत्व ये छः गुण पाये जाते हैं ।

धर्मादिक चार द्रव्यों में पाये जाने वाले विशेष गुणों की संख्या -

+ धर्मादिक चार द्रव्यों के विशेष गुण -

इतरेषां प्रत्येकं त्रयो गुणाः ॥१३॥

अन्वयार्थ : धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य और काल-द्रव्य इन चारों द्रव्यों में तीन-तीन विशेष गुण पाये जाते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

- धर्म-द्रव्य में गतिहेतुत्व, अमूर्तत्व और अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण पाये जाते हैं ।
- अधर्म द्रव्य में स्थितिहेतुत्व, अमूर्तत्व और अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण पाये जाते हैं ।
- आकाश द्रव्य में अवगाहनहेतुत्व, अमूर्तत्व और अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण पाये जाते हैं ।
- काल-द्रव्य में वर्तनाहेतुत्व, अमूर्तत्व तथा अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण हैं ।

आगे अचेतनत्व आदि चार गुणों को सामान्य गुणों तथा विशेष गुणों में क्यों कहा है, इस शंका का परिहार करते हैं -

+ कुछ गुण सामान्य भी और विशेष भी, कैसे? -

अन्तस्थाश्चत्वारो गुणाः स्वजात्यपेक्षया सामान्यगुणा विजात्यपेक्षया तु एव विशेषगुणाः ॥१४॥

अन्वयार्थ : अन्त के चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये चार गुण स्वजाति की अपेक्षा से सामान्य-गुण तथा विजाति की अपेक्षा से विशेष-गुण कहे जाते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सूत्र ९, १० व ११ की टीका में इसका विशेष कथन है ।

पर्याय अधिकार

+ पर्याय और उसके भेद -

गुणविकाराः पर्यायास्ते द्वेधा अर्थव्यंजनपर्यायभेदात् ॥१५॥

अन्वयार्थः : गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं । वे पर्यायों दो प्रकार की हैं- अर्थ-पर्याय, व्यंजन-पर्याय ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

परिणाम अर्थात् परिणमन को विकार कहते हैं । कहा भी है -

परिणाम अह वियारं ताणं तं पज्जयं दुविहं ॥न.च.१७॥

अर्थात् परिणाम या विकार को पर्याय कहते हैं और वे पर्यायों दो प्रकार की हैं ।

**गुणद्वारेणान्वयरूपाया एकत्वप्रतिपत्तेर्निबन्धनं कारणभूतो गुणपर्यायः ॥पं.का./
ता.वृ./१६/३६/४॥**

अर्थ - जिन पर्यायों में गुणों के द्वारा अन्वयरूप एकत्व का ज्ञान होता है, उन्हें गुण-पर्याय कहते हैं । जैसे -- वर्ण-गुण की हरी पीली आदि पर्याय होती हैं, हर एक पर्याय में वर्ण-गुण की एकता का ज्ञान है, इससे यह गुण-पर्याय है ।

अर्थ-पर्याय सूक्ष्म होती है, क्षण-क्षण में नाश होने वाली तथा वचनों के अगोचर होती है । व्यंजन-पर्याय स्थूल होती है, चिरकाल तक रहती है, वचन के गोचर तथा छद्मस्थों की दृष्टि का विषय भी होती है ।

**सुहुमा अवायविसया खणखड्गो अत्यपज्जया दिट्ठा ।
वज्जणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ॥व.श्रा.-२५॥**

अर्थ - पर्याय के दो शब्द भेद हैं - अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय । इनमें अर्थ-पर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है, शब्दों से नहीं कही जा सकती और क्षण-क्षण में नाश होती रहती है । किन्तु व्यंजन-पर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है अर्थात् शब्दों द्वारा कही जा सकती है और चिर-स्थायी है ।

**तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथाऽवागोचरा विषया भवन्ति । व्यंजनपर्यायाः
पुनः स्थूलाश्चिरकालस्थायिनो वागोचराश्छद्मस्थदृष्टिविषयाश्च भवन्ति ।**

समयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यन्ते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भण्यन्ते इति
कालकृतभेदः । ॥पं.का.१६.टी.॥

अर्थ – अर्थ-पर्याय सूक्ष्म है, प्रतिक्षण नाश होने वाली है तथा वचन के अगोचर है । और व्यंजन-पर्याय स्थूल होती है, चिरकाल तक रहने वाली, वचनगोचर व अल्पज्ञानी को दृष्टिगोचर भी होती है । अर्थ-पर्याय और व्यंजन-पर्यायों में कालकृत भेद है क्योंकि समयवर्ती अर्थ-पर्याय है और चिरकाल स्थायी व्यंजन पर्याय है ।

मूर्तो व्यंजनपर्यायो वागम्योऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः ॥ज्ञानार्णव-६/४४॥

अर्थ – व्यंजन-पर्याय मूर्तिक है, वचन के गोचर है, अनश्वर है, स्थिर है और अर्थ-पर्याय सूक्ष्म है, क्षणविध्वंसी है ।

द्रव्य-पर्यायों और गुण-पर्यायों दोनों ही अर्थ-पर्याय और व्यंजन-पर्याय के भेद से दो-दो प्रकार की होती है ।

यतरे च विशेषांस्ततरे गुणपर्याया भवन्त्येव ॥पं.ध./पू./१३५॥

अर्थ – जितने गुण के अंश हैं, उतने वे सब गुण-पर्याय ही कहे जाते हैं ।

एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः गुणपर्यायाणामेक-द्रव्यत्वात् । एकद्रव्यत्वं हि तेषां
सहकारफलवत् ॥प्र.सा./त.प्र./१०५॥

अर्थ – गुणपर्यायों एक-द्रव्य पर्यायों हैं, क्योंकि गुण-पर्यायों को एक-द्रव्यत्व है तथा वह द्रव्यत्व आम्रफल की भाँति हैं ।

इन पर्यायों का कथन सूत्रकार स्वयं करेंगे ।

+ अर्थ-पर्याय के भेद -

अर्थपर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात् ॥१६॥

अन्वयार्थ : अर्थ-पर्याय स्वभाव-पर्याय और विभाव-पर्याय के भेद से दो प्रकार की है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

स्वभाव-पर्याय सर्व-द्रव्यों में होती है किन्तु विभाव-पर्याय जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही होती है, क्योंकि ये दो द्रव्य ही बंध अवस्था को प्राप्त होते हैं ।

सब्भावं खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुद्धिदं ।
सव्वेसिं च सहावं विब्भावं जीवपोग्गलाणं च ॥१८॥

द्व्यगुणाण सहव पज्जायं तह विहावदो णेयं ।
जीवे जे वि सहावा ते वि विहावा हु कम्मकदा ॥न.च.१९॥

अर्थ – जिनेन्द्र देव ने द्रव्यों की पर्याय स्वभाव और विभाव रूप कहीं है । सब द्रव्यों में स्वभाव-पर्यायें होती हैं । केवल जीव और पुद्गल द्रव्य में विभाव-पर्यायें भी होती हैं । द्रव्य और गुणों में स्वभाव-पर्याय और विभाव-पर्याय जाननी चाहिए । जीव में जो स्वभाव हैं, कर्मकृत होने से वे ही विभाव हो जाते हैं ।

पोग्गलद्व्ये जो पुण विब्भाओ कालपेरिओ होदि ।
सो णिद्धलुक्खसहिदो बंधो खलु होइ तस्सेव ॥न.च.वृ./२०॥

पुद्गल में विभाव-पर्यायें काल-प्रेरित होती हैं जो स्निग्ध व रूक्ष गुण के कारण बंध-रूप होती हैं ।

कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥नि.सा.१५॥

अर्थ – जो पर्यायें कर्मोपाधि से रहित हैं ये स्वभाव-पर्यायें कहीं गई हैं ।

+ स्वभाव अर्थ-पर्याय -

अगुरूलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायास्ते द्वादशधा, षड्वृद्धिरूपाः
षड्हाहानिरूपाः, अनन्तभागवृद्धिः असंख्यातभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः,
संख्यातगुणवृद्धिः, असंख्यातगुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः, इति षड्वृद्धिः, तथा
अनन्तभागहानिः, असंख्यातभागहानिः, संख्यातभागहानिः, संख्यातगुणहानिः,
असंख्यातगुणहानिः, अनन्तगुणहानिः, इति षड्हानिः । एवं
षट्वृद्धिषड्हानिरूपा ज्ञेयाः ॥१७॥

अन्वयार्थ : अगुरूलघुगुण का परिणमन स्वाभाविक अर्थ-पर्यायें है । वे पर्यायें बारह प्रकार की हैं, छः वृद्धिरूप और छः हानिरूप । अनन्त-भाग वृद्धि, असंख्यात-भाग वृद्धि, संख्यात-भाग वृद्धि, संख्यात-गुण वृद्धि, असंख्यात-गुण वृद्धि, अनन्तगुण वृद्धि, ये छः वृद्धि-रूप पर्यायें हैं । अनन्त-भाग हानि, असंख्यात-भाग हानि, संख्यात-भाग हानि, संख्यात-गुण हानि, असंख्यात-गुण हानि, अनन्त-गुण हानि, ये छः हानि-रूप पर्यायें हैं । इस प्रकार छः वृद्धि-रूप और छः हानि-रूप पर्यायें जाननी चाहिये ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

प्रत्येक द्रव्य में आगम-प्रमाण से सिद्ध अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद वाला अगुरूलघु-गुण स्वीकार किया गया है । जिसका छः-स्थान-पतित वृद्धि और हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है। अतः इन धर्मादि द्रव्यों का उत्पाद-व्यय स्वभाव से होता रहता है ।

प्राकृत नयचक्र में स्वभावपर्याय का कथन निम्न प्रकार किया गया है-

**अगुरूलघुगुणंता समयं समयं समुब्भवा जे वि ।
दव्वाणं ते भणिया सहावगुणपज्जया जाण ॥प्रा.न.च.२१॥**

अर्थ – अगुरूलघुगुण अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद वाला है, उस अगुरूलघु-गुण में प्रति-समय पर्यायें उत्पन्न होती रहतीं हैं । अगुरूलघुगुण की पर्यायों को शुद्ध द्रव्यों की स्वभाव पर्यायें जाननी चाहियें ।

प्रत्येक शुद्ध द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं । उन अनन्त गुणों में एक अगुरूलघुगुण भी होता है जिसमें अनन्त अविभाव-प्रतिच्छेद होते हैं । उस अगुरूलघुगुण में ही नियत कम से अविभाग-प्रतिच्छेदों की ६ प्रकार की वृद्धि और ६ प्रकार की हानि रूप प्रति-समय परिणमन होता रहता है । यह प्रति-समय का परिणमन ही शुद्ध द्रव्यों की स्वभाव पर्यायें हैं ।

श्री पंचास्तिकाय गाथा १६ की टीका में श्री जयसेन आचार्य ने भी कहा है –

**स्वभावगुणपर्याया अगुरूलघुगुण - षट्हानिषट्त्वृद्धिरूपाः सर्वद्रव्यसाधारणाः ॥पं.का.
१६.टी.॥**

अर्थ – अगुरूलघुगुण षट्हानिषट्त्वृद्धि रूप एवं द्रव्यों में साधारण स्वभाव गुण पर्याय है ।

**सूक्ष्मावगगोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरूलघुगुणाः ॥
पं.का.॥**

अर्थ – जो सूक्ष्म, वचन के अगोचर और प्रति समय में परिणमनशील अगुरूलघु नाम के गुण हैं, उन्हें आगमप्रमाण से स्वीकार करना चाहिये ।

**स्वयं मन्दबुद्धित्वेऽपि विशिष्टोपाध्यायाभावे अपि शुद्धजीवादिपदार्थानां
सूक्ष्मत्वेऽपि सति सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यत्र हन्यते । आज्ञासिद्धं तु तद्वाह्यं
नान्यथावादिनो जिनाः ॥द्र.सं./टी./४८/२०२॥**

अर्थ – स्वयं अल्पबुद्धि हो विशेष ज्ञानी गुरु की प्राप्ति न हो जब शुद्ध जीवादि पदार्थों की सूक्ष्मता होने पर - श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ जो सूक्ष्मतत्त्व है, वह हेतुओं से खण्डित नहीं हो सकता, अतः जो सूक्ष्मतत्त्व है उसे जिनेन्द्र की आज्ञा के अनुसार ग्रहण करना चाहिए ।

जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए जो सूक्ष्म तत्त्व हैं वे हेतुओं अर्थात् तर्क के द्वारा खण्डित नहीं हो सकते इसलिये जो सूक्ष्म तत्त्व हैं वे आज्ञा (आगम) से सिद्ध हैं, अतः उनको ग्रहण

करना चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं होते हैं । अर्थात् जिस प्रकार से कथन किया है उसी प्रकार से उन्होंने जाना है । अतः वैसा ही पदार्थ है ।

यद्यपि अगुरुलघुगुण सामान्य गुण है, सर्व द्रव्यों में पाया जाता है तथापि संसार अवस्था में कर्म परतन्त्र जीवों में उस स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का अभाव है । यदि कहा जाय कि स्वभाव का विनाश मानने पर जीव द्रव्य का विनाश प्राप्त होता है, क्योंकि लक्षण के विनाश होने पर लक्ष्य का विनाश होता है, ऐसा न्याय है, सो भी बात नहीं है अर्थात् अगुरुलघुगुण के विनाश होने पर भी जीव का विनाश नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान और दर्शन को छोड़कर अगुरुलघुत्व जीव का लक्षण नहीं है, चूंकि वह आकाश आदि अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है । अनादि काल से कर्म नोकर्म से बंधे हुए जीवों के कर्मोदय-कृत अगुरुलघुत्व है किन्तु मुक्त जीवों के कर्म नोकर्म की अत्यन्त निवृत्ति हो जाने पर स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का आविर्भाव होता है ।

छः वृद्धि व हानि में अनन्त व प्रमाण सम्पूर्ण जीव राशि, असंख्यात का प्रमाण असंख्यात लोक और संख्यात का प्रमाण उत्कृष्ट संख्यात जानना चाहिये ।

मान लो अगुरुलघु गुण के अविभाग-प्रतिच्छेदों का प्रमाण १२००० है और संख्यात का प्रमाण ३, असंख्यात का प्रमाण ४, अनन्त का प्रमाण ५ है । १२००० को ५ का भाग देने पर लब्ध २४०० प्राप्त होता है जो १२००० का अनन्तवाँ भाग है । इस अनन्तर्ये भाग रूप २४०० को १२००० में जोड़ने पर १४४०० अनन्त भाग वृद्धि प्राप्त होती है । १२००० को असंख्यात रूप ४ का भाग देने पर ३००० प्राप्त होता है जो असंख्यातवां भाग है उस असंख्यातवें भाग रूप ३००० को १२००० में जोड़ने पर $(१२०००+३०००)=१५०००$ प्राप्त होता है जो असंख्यातवें भाग वृद्धि रूप है । १२००० को संख्यात रूप ३ का भाग देने पर ४००० प्राप्त होता है जो संख्यातवां भाग है । इस संख्यातवें भाग रूप ४००० को १२००० में जोड़ने पर १६००० प्राप्त होता है जो संख्यातवें भाग वृद्धि रूप है । १२००० को संख्यातरूप ३ से गुणा करने पर ३६००० संख्यातगुण वृद्धि प्राप्त होती है । १२००० को असंख्यात रूप ४ से गुणा करने पर ४८००० असंख्यातगुण वृद्धि प्राप्त होती है । १२००० को अनन्तरूप ५ से गुणा करने पर ६०००० अनन्तगुण वृद्धि प्राप्त होती है । ये छः वृद्धि हैं ।

१२००० को अनन्तरूप ५ का भाग देने पर २४०० प्राप्त होता है जो अनन्तवां भाग है । इस अनन्तवें भाग रूप २४०० को १२००० में से घटाने पर $(१२०००-२४००)$ ९६०० प्राप्त होते हैं जो अनन्तवें भाग हानि रूप है । १२००० को असंख्यात रूप ४ का भाग देने पर ३००० प्राप्त होते हैं जो असंख्यातवें भाग है । इस असंख्यातवें भाग रूप ३००० को १२००० में से घटाने पर शेष ९००० रहते हैं जो असंख्यातवें भाग हानि रूप है । १२००० को संख्यात रूप ३ का भाग देने पर ४००० प्राप्त होते हैं । संख्यातवें भाग रूप ४००० को १२००० में से घटाने पर ८००० शेष रहते हैं जो संख्यातवें भाग हानि रूप है । १२००० को संख्यात रूप ३ से भाग देने पर ४००० लब्ध होता है । १२००० से घटकर मात्र ४०००

रह जाना संख्यातगुण हानि है । १२००० को असंख्यात रूप ४ का भाग देने पर ३००० लब्ध होता है । १२००० से घटकर मात्र ३००० शेष रह जाना असंख्यातगुण हानि है । १२००० को अनन्तरूप ५ का भाग देने पर २४०० लब्ध आते हैं । मात्र २४०० रह जाना अनन्तगुण हानि है । इस प्रकार ये छः हानियां हैं ।

अंगुल के असंख्यातवें भाग बार अनन्तवें भाग वृद्धि होने पर एक बार असंख्यातवें भाग वृद्धि होती है । पुनः अंगुल के असंख्यातवें भाग बार अनन्तवें भाग वृद्धि होने पर एक बार असंख्यातवें भाग वृद्धि होती है । इस प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग बार असंख्यातवें भाग वृद्धि होने पर एक बार संख्यातवें भाग वृद्धि होती है पुनः पूर्वोक्त प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग बार असंख्यातवें भाग वृद्धि होने पर एक बार संख्यातवें भाग वृद्धि होती है । इस प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग बार संख्यातवें भाग वृद्धि होने पर एक बार संख्यातगुणी वृद्धि होती है । पूर्वोक्त प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग बार संख्यातगुणी वृद्धि होने पर एक बार असंख्यातगुण वृद्धि होती है । अंगुल के असंख्यातवें भाग बार असंख्यातगुण वृद्धि होने पर एक बार अनन्तगुण वृद्धि होती है । इस प्रकार छः वृद्धि होने पर छः हानियां होती है ।

एक षट्स्थान पतित वृद्धि में, अनन्तगुण वृद्धि एक होती है। असंख्यात-गुण वृद्धि कांडक प्रमाण अर्थात् अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती हैं । संख्यातगुण वृद्धिकांडक \times (कांडक+१)=(कांडक२+कांडक) प्रमाण होती हैं । संख्यात भाग वृद्धि (कांडक+१) (कांडक२+कांडक)=(कांडक२+२ कांडक२+कांडक) प्रमाण होती है । असंख्यात भाग वृद्धि (कांडक+१) (कांडक२+२ कांडक२+कांडक)=(कांडक२+३ कांडक१ + ३कांडक१ + कांडक) प्रमाण होती है । अनन्तभाग वृद्धि (कांडक+१) (कांडक४+ ३ कांडक१ + ३कांडक२ + कांडक२+कांडक)=(कांडक२+ ४ कांडक + ६ कांडक१ + ४ कांडक२+कांडक) प्रमाण होती है । २

इसी प्रकार एक षट्स्थान पतित हानि में अनन्तगुणहानि, असंख्यातगुण हानि, संख्यातगुण हानि, संख्यातभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, अनन्त-भागहानि का प्रमाण जानना चाहिये ।

अनन्तभाग वृद्धि की उर्वक (३) संज्ञा है, असंख्यातभाग वृद्धि की चतुरंक (४), संख्यातभाग वृद्धि की पंचांक (५), संख्यातगुण वृद्धि की षडंक (६), असंख्यातगुण वृद्धि की सप्तांक (७) और अनन्तगुण वृद्धि की मष्टांक (८) संज्ञा जाननी चाहिये ।

+ जीव की विभाव अर्थ-पर्याय -

**विभावार्थपर्यायाः षड्विधाः मिथ्यात्व-कषाय-राग-द्वेष-पुण्य-
पापरूपाऽध्यवसायाः ॥१८॥**

अन्वयार्थ : विभावअर्थपर्याय छः प्रकार की है १ मिथ्यात्व २ कषाय ३ राग ४ द्वेष ५ पुण्य और ६ पाप । ये छः अव्यवसाय विभाव अर्थ-पर्याय हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

मिथ्यात्व कषाय आदि रूप जीव के परिणामों में कर्मोदय के कारण जो प्रति समय हानि या वृद्धि होती रहती है, वह विभाव अर्थ-पर्याय है । यह हानि या वृद्धि अनन्तवें भाग आदि रूप षट्स्थान-गत ही होगी, क्योंकि कोई भी हानि या वृद्धि इन छः स्थानों से बाहर नहीं हो सकती, इन छः स्थानों के अन्तर्गत ही होती है । श्री जयसेन-आचार्य ने भी जीव की अशुद्ध-पर्याय का कथन करते हुए लिखा है -

**अशुद्धार्थपर्याया जीवस्य षट्स्थानगतकषायहानिवृद्धि विशुद्धि-
संक्लेशरूपशुभाशुभलेश्यास्थानेषु ज्ञातव्याः ॥पं.का.१६.टी.॥**

अर्थ - कषायों की षट्स्थानगत हानि वृद्धि होने से विशुद्ध या संक्लेश रूप शुभ-अशुभ लेश्याओं के स्थानों में जीव की अशुद्ध (विभाव) अर्थ-पर्यायें जाननी चाहिये ।

**पुद्गलस्य विभावार्थपर्याया द्वयणुकादिस्कंधेषु वर्णान्तरादि-परिणमनरूपाः ॥
पं.का.१६.टी.॥**

अर्थ - द्वि-अणुक आदिक स्कंधों में वर्णादि से अन्य वर्णादि होने रूप पुद्गल की विभाव अर्थ-पर्यायें हैं ।

इस प्रकार जीव के लेश्यारूप परिणामों में और पुद्गल-स्कंधों के वर्णादि में जो प्रतिक्षण परिणमन होता है वह विभावार्थ पर्याय है ।

॥ इति अर्थ पर्याय ॥

+ जीव की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय -

**विभावपर्यायाश्चतुर्विधाः नरनारकादिपर्यायाः अथवा चतुरशीतिलक्षा योनयः ॥
१९॥**

अन्वयार्थ : नर-नारक आदि रूप चार-प्रकार की अथवा चौरासी लाख योनि रूप जीव की विभाव द्रव्य-व्यंजन-पर्याय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

जीव और पुद्गलों में ही विभाव पर्यायें होती हैं । द्रव्य की व्यंजन पर्याय द्रव्य-व्यंजन-पर्याय है । विभावरूप परिणत द्रव्य की व्यंजन-पर्याय विभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय है । स्वभाव से अन्यथारूप होना विभाव है । द्रव्य के लक्षण या चिह्न को व्यंजन कहते हैं ।

परिणमन को पर्याय कहते हैं । नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव, ये चारों जीव की द्रव्य पर्यायें हैं, क्योंकि ये जीव के किसी गुण की पर्यायें नहीं हैं । ये पर्यायें गति व आयु-कर्मोदय-जनित है और जीव स्वभाव का पराभव करके उत्पन्न होती हैं इसलिये विभाव पर्यायें हैं । श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है --

**कम्मं णामसमक्खं सभावमध अध्यणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥प्र.सा.११७॥**

अर्थ – नाम संज्ञा वाला कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्य, तिर्यच, नारक अथवा देव पर्यायों को करता है ।

**जीवस्य भवांतरगतस्य शरीरनोकर्मपुद्गलेन सह मनुष्यदेवादि-पर्यायोत्पत्तिः
चेतनजीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्येण सह मेलापकादसमान-जातीयः द्रव्यपर्यायो भण्यते
। एतेसमानजातीया असमानजातीयाश्च अनेकद्रव्यात्मिकैकरूपा द्रव्यपर्याया
जीवपुद्गलयोरेव भवन्ति अशुद्धा एव भवन्ति । कस्मादिति चेत् ? अनेकद्रव्याणां
परस्परसंश्लेषरूपेण सम्बन्धात् ॥पं.का.१६.टी.॥**

अर्थ – जीव जब दूसरी गति को जाता है तब नवीन शरीररूप नोकर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करता है, उससे मनुष्य, देव, तिर्यच, नारक पर्यायों की उत्पत्ति होती है । चेतनरूप जीव के साथ अचेतनरूप पुद्गल के मिलने से जो मनुष्यादि पर्याय हुई यह असमानजाति द्रव्य-पर्याय है । ये समानजातीय तथा असमानजातीय अनेक द्रव्यों की एकरूप द्रव्य-पर्यायें पुद्गल और जीव में ही होती हैं । ये अशुद्ध ही होती हैं, क्योंकि अनेक द्रव्यों के परस्पर संश्लेष-सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं ।

+ जीव की विभाव गुण व्यंजन पर्याय -

विभावगुणव्यंजनपर्याया मत्यादयः ॥२०॥

अन्वयार्थ : मतिज्ञान आदिक जीव की विभाव-गुण-व्यंजन-पर्यायें हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

स्थूल, वचनगोचर, नाशवान और स्थिर पर्यायें व्यंजन-पर्यायें हैं । सूक्ष्म और प्रतिक्षण नाश होने वाली पर्यायें अर्थ-पर्यायें हैं । कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय -- ये सात ज्ञान; चक्षु, अचक्षु और अवधि -- ये तीन दर्शन; ये सब जीव की विभाव-गुण-व्यंजनपर्यायें हैं ।

- इन सातों उपयोगों का जघन्य काल भी अन्तर्मुहूर्त है, अतः ये व्यंजन-पर्यायें हैं ।
- ये सातों उपयोग आवरणकर्म के क्षयोपशम के अधीन हैं अतः ये विभाव-पर्यायें हैं ।
- ज्ञानगुण तथा दर्शनगुण की क्षायोपशमिक पर्यायें हैं, अतः गुण पर्यायें हैं ।

इस प्रकार मतिज्ञान आदिक जीव की विभाव-गुण-व्यंजन पर्यायें हैं ।

+ जीव की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय -

स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्यायाश्चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनसिद्ध-पर्यायाः ॥२१॥

अन्वयार्थ : अन्तिम शरीर से कुछ कम जो सिद्ध पर्याय है, वह जीव की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

तिलोपपण्णति अधिकार ९ के सूत्र ९ व १० में सिद्धों की अवगाहना का कथन है । इन दो आयामों द्वारा दो भिन्न मतों का उल्लेख किया गया है । इनमें से गाथा १० टिप्पण में उद्धृत की गई है जिसका अर्थ है - 'अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता और बाहुल्य हो उससे तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है ।' अर्थात् पूर्व जन्म में शरीर की जितनी लम्बाई-चौड़ाई होती है उसके तीसरे भाग से न्यून सिद्ध-पर्याय की अवगाहना होती है । किन्तु गाथा ९ में कहा है -- लोक विनिश्चय ग्रन्थ में लोक विभाग में सब सिद्धों की अवगाहना का प्रमाण कुछ कम चरम-शरीर के समान कहा है । इसका दृष्टान्त इस प्रकार है -- मोम रहित मूसा के (सांचे के) बीच के आकार की तरह अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले केवलज्ञानमूर्ति अमूर्तिक सिद्ध-भगवान विराजते हैं । यह सिद्ध-पर्याय जीव की शुद्ध-पर्याय है इसलिए स्वभाव-पर्याय है । किसी विवक्षित गुण की पर्याय नहीं है इसलिए द्रव्य-पर्याय है । सिद्ध पर्याय सादि-अनन्त पर्याय है इसलिए व्यंजन-पर्याय है । सिद्ध पर्याय की अवगाहना अन्तिम शरीर से कुछ न्यून है ।

+ जीव की स्वभाव-गुण-व्यंजन-पर्याय -

स्वभावगुणव्यंजनपर्याया अनन्तचतुष्टयरूपा जीवस्य ॥२२॥

अन्वयार्थ : अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख और अनन्त-वीर्य इन अनन्त-चतुष्टयरूप जीव की स्वभाव-गुण-व्यंजन-पर्याय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

ज्ञानावरण-कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त-ज्ञान, दर्शनावरण-कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त-दर्शन, मोहनीय-कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त-सुख, अन्तराय-कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त-वीर्य, इस प्रकार चार घातिया-कर्मों के क्षय से अनन्त-चतुष्टयरूप जीव की स्वभाव-गुण-व्यंजन-पर्याय उत्पन्न होती है । ,

- इन अनन्त-चतुष्टय का कभी नाश नहीं होगा, अर्थात् चिरकाल-स्थायी है, इसलिये यह **व्यंजन-पर्याय** है ।
- कर्मोपाधि-रहित पर्याय है अतः **स्वभाव-पर्याय** है ।

- ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुणों की पर्याय है अतः **गुण-पर्याय** है ।

कहा भी है --

णाणं दंसण सुह वीरियं च जं उहयकम्मपरिहीणं ।
तं सुद्धं जाण तुमं जीवे गुणपज्जय सव्वं ॥न.च.२६॥

अर्थ – दोनों प्रकार के कर्मों से रहित शुद्ध-जीव के अनन्त-ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य जीव की स्वभाव-गुण-पर्याय है ।

+ पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय -

पुद्गलस्य तु द्व्यणुकादयो विभावद्रव्यव्यंजनपर्यायाः ॥२३॥

अन्वयार्थ : द्वि-अणुक आदि स्कंध पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

यहाँ पर 'तु' शब्द का अर्थ 'और' है । ओर पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यंजन पर्यायें द्वि-अणुक आदि स्कंध हैं । शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत आदि भी पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यंजन पर्यायें हैं । कहा भी है --

सद्दो बंधो सुहमो, थूलो संठाणभेदतमछाया ।
उज्जोदादवसहिया, पुगल दव्वस्स पज्जाया ॥वृ.द्र.सं.१६॥

अर्थ – शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम (अंधकार), छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं ।

शब्दादन्येऽपि आगमोक्तलक्षणा आकुञ्चनप्रसारणदधिदुग्धादयो
विभावव्यंजनपर्याया ज्ञातव्या ॥वृ.द्र.सं.१६.टी.॥

अर्थ – शब्द आदि के अतिरिक्त शास्त्रोक्त अन्य भी, जैसे सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध आदि विभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्यायें जाननी चाहियें ।

+ पुद्गल की विभाव-गुण-व्यंजनपर्याय -

रसरसान्तरगन्धगन्धान्तरादिविभावगुणव्यंजनपर्यायाः ॥२४॥

अन्वयार्थ : द्वि-अणुक आदि स्कन्धों में एक वर्ण से दूसरे वर्णरूप, एक रस से दूसरे रसरूप, एक गंध से दूसरे गंधरूप, एक स्पर्श से दूसरे स्पर्श रूप होने वाला चिरकाल-स्थायी-परिणमन पुद्गल की विभाव-गुण-व्यंजन-पर्याय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

द्वि-अणुक आदि स्कंध पुद्गल-द्रव्य की अशुद्ध-पर्याय है । इस अशुद्ध पुद्गल-द्रव्य के गुणों में जो परिणमन होता है वह विभाव-गुण-पर्याय है । यदि वह परिणमन क्षणक्षयी है तो वह विभाव-गुण-अर्थ-पर्याय है और यदि वह परिणमन चिरकाल स्थायी है तो वह विभाव-गुण-व्यंजन-पर्याय है । इसी बात को श्री जयसेन आचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १६ की टीका में कहा है --

**पुद्गलस्य विभावार्थपर्याया द्वयणुकादिस्कंधेषु वर्णान्तरादिपरिणमनरूपाः ।
विभावव्यंजनपर्यायाश्च पुद्गलस्य द्वयणुकादिस्कंधेष्वेव चिरकालस्थायिनो
सर्वद्रव्याणां कथिताः ॥पं.का.१६.टी.॥**

+ पुद्गल की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय -

अविभागीपुद्गलपरमाणुः स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्यायः ॥२५॥

अन्वयार्थ : अविभागी पुद्गल परमाणु पुद्गल की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

टिप्पण में आचारसार तीसरी अध्याय की गाथा १३ उद्धृत की है उसका यह अभिप्राय है कि -- परमाणु पुद्गल का ऐसा अवयव (टुकड़ा) है, जो भेदा नहीं जा सकता अर्थात् परमाणु के टुकड़े नहीं हो सकते, इसलिये पुद्गल परमाणु अविभागी है । उस पुद्गल परमाणु में स्निग्ध या रूक्ष गुण के कारण परस्पर बंधने की शक्ति रहती है । परस्पर बंध हो जाने पर बहु-प्रदेशी हो जाता है । अतः प्रचय शक्ति के कारण यह परमाणु भी कायवान् है । वह पुद्गल स्कंध के भेद से उत्पन्न होता है । वह परमाणु चतुरस्र है अर्थात् लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई वाला है और इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है ।

'अएवः परिमण्डलाः' अर्थात् परमाणु गोल होता है । सबसे जघन्य अवगाहना गोल होती है । जीव की भी समय जघन्य अवगाहना पटुल-आकार अर्थात् गोल होती है । श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार में पुद्गल परमाणु का कथन इस प्रकार किया है -

**अत्तादि अतमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं ।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विश्राणाहि ॥नि.सा.२६॥**

अर्थ – जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसको इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं ऐसा जो अविभागी (विभाग रहित) पुद्गल द्रव्य है उसे परमाणु समझो ।

'भेदादणु' ॥त.सू.५/२७॥

इस सूत्र द्वारा यह बतलाया गया है कि परमाणु स्कंध के भेद से उत्पन्न होता है, अतः अनादि काल से अब तक परमाणु की अवस्था में ही रहने वाला कोई भी परमाणु नहीं है ।

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्ते द समयसद्दो जो ।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि ॥प्र.सा.१६३॥

अर्थ – परमाणु जो कि अप्रदेश है, प्रदेशमात्र है और स्वयं अशब्द है, वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ द्विप्रदेशादिपने का अनुभव करता है ।

सव्वेसिं खंदाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू ।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागि मुत्तिभवो ॥पं.का.७७॥

अर्थ – सभी स्कन्धों का जो अंतिम भाग है, उसे परमाणु जानो। वह शाश्वत, अशब्द, एक अविभागी और मूर्तिभव (मूर्त रूप से उत्पन्न होने वाला) जानना चाहिए।

एयपदेसो वि अणू, णाणाखंधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा, तेण य काओ भणंति सव्वण्ह ॥वृ.द्र.सं.२६॥

अर्थ – एकप्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कन्धरूप बहुप्रदेशी हो सकता है, इस कारण सर्वज्ञदेव ने पुद्गल परमाणु को उपचार से काय कहा है ।

परमाणु निरवयव भी है और सावयव भी है । द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन करने पर दो परमाणुओं का कथंचित् सर्वात्मना समागम होता है, क्योंकि परमाणु निरवयव होता है । यदि परमाणु के अवयव होते हैं ऐसा माना जाय तो परमाणु को अवयवी होना चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि अवयव के विभाग द्वारा अवयवों के संयोग का विनाश होने पर परमाणु का अभाव प्राप्त होता है, पर ऐसा है नहीं, क्योंकि परमाणु रूप कारण का अभाव होने से सब स्थूल कार्य (स्कन्धों) का भी अभाव प्राप्त होता है । परमाणु के कल्पितरूप अवयव होते हैं, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह मानने पर अव्यवस्था प्राप्त होती है । इसलिए परमाणु को निरवयव होना चाहिए । निरवयव परमाणुओं से स्थूल कार्य की उत्पत्ति नहीं बनेगी, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि निरवयव परमाणुओं के सर्वात्मना समागम से स्थूल कार्य (स्कन्ध) की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं आता । पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर दो परमाणुओं का कथंचित् एकदेशेन समागम होता है । परमाणु के अवयव नहीं होते, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उनके उपरिम, अधस्तन, मध्यम और उपरिमोपरिम भाग न हों तो परमाणु का ही अभाव प्राप्त होता है । ये भाग कल्पित रूप होते हैं, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणु में ऊर्ध्वभाग अधोमान, मध्यमभाग तथा उपरिमोपरिमभाग कल्पना के बिना भी उपलब्ध होते हैं । परमाणु के अवयव है इसलिये उनका सर्वत्र विभाग ही होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो सब वस्तुओं के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है । जिनका भिन्न-भिन्न प्रमाणों से ग्रहण होता है और जो भिन्न-भिन्न दिशा वाले हैं वे एक हैं यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर विरोध आता है । अवयवों से परमाणु नहीं बना है यह कहना भी ठीक नहीं है,

क्योंकि अवयवों के समूहरूप ही परमाणु दिखाई देता है । अवयवों के संयोग का विनाश होना चाहिये यह भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि अनादि संयोग के होने पर उसका विनाश नहीं होता । इस प्रकार अविभागी पुद्गल-परमाणु द्रव्यार्थिक नय के अवलम्बन से निरवयव है और पर्यायार्थिक नय से सावयव है । पुद्गल परमाणु निरवयव ही है, ऐसा एकान्त नहीं है ।

द्वि-अणुक आदि स्कंध कार्यों का उत्पादक होने से पुद्गल-परमाणु स्यात् कारण है, स्कंध-भेद से उत्पन्न होता है, अतः स्यात् कार्य है । परमाणु से छोटा कोई भेद नहीं है, अतः स्यात् अन्त्य है, प्रदेश-भेद न होने पर भी गुणादि-भेद होने के कारण परमाणु अन्त्य नहीं भी है । सूक्ष्म परिणमन होने से स्यात् सूक्ष्म है और स्थूल कार्य की उत्पत्ति की योग्यता रखने से स्यात् स्थूल भी है । द्रव्यता नहीं छोड़ता, अतः स्यात् नित्य है, स्कंध-पर्याय को प्राप्त होता है और गुणों का विपरिणमन होने से स्यात् अनित्य है । अप्रदेशत्व की विवक्षा में एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला है, अनेक प्रदेशी स्कंधरूप परिणमन की शक्ति होने से अनेक रस आदि वाला भी है । स्कंधरूप कार्य-लिंग से अनुमेय होने के कारण स्यात् कार्यलिंग है और प्रत्यक्ष-ज्ञान का विषय होने से कार्यलिंग नहीं भी है । इस प्रकार परमाणु के विषय में अनेकान्त है ।

यदि यह कहा जाय कि परमाणु अनादिकाल से अणु रहता है सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि परमाणु अपने अणुत्व को नहीं छोड़ता तो उससे स्कंधरूप कार्य भी उत्पन्न नहीं हो सकता । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्कंध अवस्था में परमाणु अणुरूप से नहीं रहता है किन्तु अणुत्व को छोड़कर स्कंधत्व को प्राप्त हो जाता है ।

पुद्गल परमाणु-अवस्था में संश्लेष-सम्बन्ध से रहित है, अतः परमाणु अवस्था शुद्ध है, इसीलिये परमाणु स्वभाव-पर्याय है । परमाणु किसी गुण की पर्याय नहीं है अतः द्रव्य-पर्याय है । परमाणु-रूप पर्याय चिरकाल-स्थायी भी है इसलिये परमाणु व्यंजन-पर्याय है । अतः परमाणु को पुद्गल की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय कहा गया है ।

+ पुद्गल की स्वभाव-गुण-व्यंजन-पर्याय -

वर्णगंधरसैकैकाविरुद्धस्पर्शद्वयं स्वभावगुणव्यंजनपर्यायाः ॥२६॥

अन्वयार्थ : पुद्गल-परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और परस्पर अविरुद्ध दो स्पर्श होते हैं । इन गुणों की जो चिरकाल स्थायी पर्यायें हैं वे स्वभाव-गुण-व्यंजन पर्यायें हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

तीखा, चरपरा, कसायला, खट्टा, मीठा इन पांच रसों में से एक काल में एक रस रहता है । शुक्ल, पीत, रक्त, काला, नीला इन पांच वर्णों में से एक वर्ण एक काल में रहता है । सुगन्ध, दुर्गन्ध इन दो प्रकार की गंध में से कोई एक गंध एक काल में रहती है । शीत व

उष्ण स्पर्श में से कोई एक, तथा स्निग्ध व रूक्ष स्पर्श में से कोई एक, इस प्रकार दो स्पर्श एक काल में परमाणु में रहते हैं । अर्थात् शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष, उष्ण स्निग्ध, उष्ण-रूक्ष, स्पर्श के इन चार युगलों में से कोई एक युगल एक काल में एक परमाणु में रहता है । शीत-उष्ण ये दोनों स्पर्श या स्निग्ध-रूक्ष ये दोनों स्पर्श एक कास में एक परमाणु में नहीं रह सकते, क्योंकि ये परस्पर में विरूद्ध हैं ।

**एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्वकारणमसद्वं ।
खंदंतरिदं दव्वं परमाणु तं वियाणाहि स्कंदांतरित ॥पं.का.८१॥**

अर्थ – जिसमें कोई एक रस, कोई एक वर्ण, कोई एक गंध व दो स्पर्श हों, जो शब्द का कारण हो, स्वयं शब्द रहित हो, जो स्कंध से जुदा हो, उस पुद्गल द्रव्य को परमाणु कहते हैं ।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य की परमाणु रूप शुद्ध-पर्याय में वर्ण, गंध व रस गुणों की एक एक पर्याय होती है तथा स्पर्श-गुण की परस्पर अविरूद्ध दो पर्यायें होती हैं । वे स्वभाव गुण पर्याय हैं । वे पर्यायें चिरकाल तक भी रहती हैं, अतः व्यंजन-पर्यायें हैं । अर्थात् पुद्गल-परमाणु में वर्ण, गंध, रस व स्पर्श गुणों की चिरकाल तक रहने वाली पर्यायें, पुद्गल की स्वभाव-गुण-व्यंजन पर्यायें हैं ।

॥ इति व्यंजन-पर्याय ॥

**अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति
जलकल्लोलवज्जले ॥त.अनु./११२॥**

अर्थ – अनादि-अनन्त द्रव्य में अपनी अपनी पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं ॥१॥

**धर्माधर्मनभः काला अर्थ-पर्यायगोचराः ।
व्यंजनेन तु सम्बद्धौ द्वावन्यौ जीव पुद्गलौ ॥२॥**

धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य और काल-द्रव्य इन चारों द्रव्यों में अर्थ पर्याय ही होती है किन्तु इनसे भिन्न जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में व्यंजन पर्यायें भी होती हैं ॥ २॥

विशेषार्थ गाथा १- द्रव्यार्थिक नय के अवलम्बन से द्रव्य नित्य है -- न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है अर्थात् अनादि-अनिधन है, सत् स्वभाव वाला है । कहा भी है --

**उप्पत्ती य विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सम्भावो ।
विगमुप्पादधुवत्तं करेति तस्सेव पज्जाया ॥पं.का.११॥**

अर्थ – द्रव्य का उत्पाद-विनाश नहीं है, सद्भाव है। विनाश, उत्पाद और ध्रुवता को उसकी ही पर्यायें करती हैं ।

द्रव्यस्य.....त्रिकालावस्थायिनोऽनादिनिधनस्य न समुच्छेदसमुदयौ युक्तौ ।
.....ततो द्रव्यार्थार्पणायामनुत्पादमनुच्छेदं सत् स्वभावमेव द्रव्यं ॥पं.का.
११.टी.अ.आ.॥

अनादिनिधनस्य द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकनयेनोत्पत्तिश्च विनाशो वा नास्ति ॥पं.का.
११.ता.वृ.॥

यद्यपि द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य त्रिकाल अवस्थायी अनादि-अनिधन है, उत्पाद-व्यय से रहित है तथापि पर्यायार्थिक नय के अवलम्बन से उस अनादि-अनिधन द्रव्य में प्रतिक्षण पर्यायें उत्पन्न होती हैं, विनष्ट होती हैं, क्योंकि द्रव्य अनित्य है और उत्पाद-व्यय सहित है । कहा भी है --

उप्पज्जन्ति वियन्ति य, भावा नियमेण पज्जवनयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥ज.ध.१/२४८॥

अर्थ – पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नियम से उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं तथा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वे सदा अविनष्ट और अनुत्पन्न स्वभाव वाले हैं ।

इस प्रकार दोनों नयों के अवलम्बन से वस्तु-स्वरूप की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि वस्तु-स्वरूप अनेकान्तमयी है । इन दोनों नयों में से किसी एक नय का एकान्त पक्ष ग्रहण करने से संसारादि का अभाव हो जायगा । कहा भी है --

ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो णेव पज्जवणयस्स ।
सासयवियत्तिवायी जम्हा उच्छेदवादीया ॥ज.ध.१/२४९॥

अर्थ – द्रव्यार्थिक नय के पक्ष में संसार नहीं बन सकता है । उसी प्रकार सर्वथा पर्यायार्थिक नय के पक्ष में भी संसार नहीं बन सकता है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नय निस्पव्यक्तिवादी है और पर्यायार्थिक नय उच्छेदवादी है ।

विशेषार्थ गाथा २- धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य और काल-द्रव्य ये चारों द्रव्य सर्वदा शुद्ध हैं, क्योंकि कभी बंध को प्राप्त नहीं होते अतः इन चारों द्रव्यों में अगुरुलघुगुण के कारण पतिक्षण षट्गुणी वृद्धि-हानि रूप अर्थ-पर्याय होती रहती है, किन्तु बंध के सम्बन्ध से होने वाली किया निमित्तक पर्यायें अथवा व्यंजन-पर्यायें नहीं होती हैं । जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य बंध को प्राप्त होने के कारण अशुद्ध होते हैं अतः इनमें क्रिया-निमित्तक तथा व्यंजन पर्यायें भी होती हैं । कहा भी है -

परिणामजुदो जीओ गइगमणुवलंभओ असंदेहो ।
तह पुगलो य पाहणपहुइ-परिणामदंसणा णाउं ॥२६॥
वंजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा । अत्थपरिणामभासिय सव्वे
परिणामिणो अत्था ॥व.श्रा.२७॥

अर्थ – जीव परिणामयुक्त है अर्थात् परिणामी है, क्योंकि उसका स्वर्ग, नरक आदि गतियों में निःसन्देह गमन पाया जाता है । इसी प्रकार पाषाण मिट्टी आदि स्थूल पर्यायों के परिणामन देखे जाने से पुद्गल को परिणामी जानना चाहिये । धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल-द्रव्य ये चारों द्रव्य व्यंजन-पर्याय के अभाव से यद्यपि अपरिणामी कहलाते हैं तथापि अर्थ-पर्याय की अपेक्षा ये द्रव्य परिणामी हैं, क्योंकि अर्थ-पर्याय सभी द्रव्यों में होती है ।

धर्मादीनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषामुत्पादो न भवेत् । क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो दृष्टः । उत्पादाभावाच्च व्यायाभावइति । अतः सर्वद्रव्याणामुत्पादादित्रितयकल्पनाव्याघात इति । तन्न; किं कारणम् । अन्यथोपपत्तेः । क्रियानिमित्तोत्पादाभावेऽप्येषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते । तद्यथा द्विविध उत्पादः स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च ।.....षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेस्तेषामुत्पादो व्ययश्च ॥स.सि.५/७॥

प्रश्न – यदि धर्मादि द्रव्य निष्क्रिय हैं तो उनका उत्पाद नहीं बन-सकता, क्योंकि घटादिक का क्रिया-पूर्वक ही उत्पाद देखा जाता है, और उत्पाद नहीं बनने से इनका व्यय भी नहीं बनता । अतः 'सब द्रव्य उत्पाद आदि तीन रूप होते हैं', इस कल्पना का व्याघात हो जाता है?

उत्तर – नहीं, क्योंकि इनमें उत्पादादि तीन अन्य प्रकार से बन जाते हैं । यद्यपि इन धर्मादि द्रव्यों में क्रिया-निमित्तक उत्पाद नहीं है तो भी इनमें अन्य प्रकार से उत्पाद माना गया है । यथा-उत्पाद दो प्रकार का है -- स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद । तहाँ इनमें छह स्थानपतित वृद्धि और हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है । अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभाव से (स्वनिमित्तक) होता है ।

इस प्रकार धर्मादि चार द्रव्यों में स्वभाव अर्थ-पर्याय होती है किन्तु जीव और पुद्गल में व्यंजन-पर्याय भी होती हैं ।

॥ इति पर्ययाधिकार ॥

+ प्रकारान्तर से द्रव्य, गुण व पर्याय का लक्षण -

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥२७॥

अन्वयार्थ : गुण-पर्याय वाला द्रव्य है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

पहिले सूत्र ६ व ७ में द्रव्य का लक्षण 'सत्' तथा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' कह चुके हैं फिर भी यहाँ प्रकारान्तर से द्रव्य का लक्षण कहा गया है । द्रव्य का गुण और पर्यायों से कथंचित् भेद है इसलिये सूत्र में 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है । गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी होती हैं । कहा भी है -- गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो ।

तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं इवे णिच्चं ॥

अर्थ – द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को विशेष गुण और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं । द्रव्य इन दोनों से युक्त होता है । तथा वह अयुत्तसिद्ध और नित्य होता है । अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय से अभिन्न होता है ।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से जुदा होता है वह विशेष गुण है । इस गुण के द्वारा द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है । यदि भेदक विशेष गुण न हो तो द्रव्य में सांकर्य हो जाय ।

सूत्र ६, ७ व २७ के द्वारा द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार कहा गया है । द्रव्य के इन तीन लक्षणों में से किसी एक लक्षण का कथन करने पर शेष दोनों लक्षण भी अर्थ से ग्रहण हो जाते हैं । जैसे नित्य-अनित्य स्वभाव वाले 'सत्' कहने से नित्यरूप ध्रौव्य और अनित्यरूप उत्पाद-व्यय का अथवा नित्य-रूप गुण का और अनित्यरूप पर्याय का ग्रहण हो जाता है । इस प्रकार इन तीनों लक्षणों में कोई भेद या अन्तर नहीं है, मात्र विवक्षाभेद है ।

स्वभाव अधिकार

+ द्रव्यों के सामान्य व विशेष स्वभावों का कथन -

**स्वभावाः कथ्यन्ते-अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभावः नित्यस्वभावः अनित्यस्वभावः
एकस्वभावः, अनेकस्वभावः भेदस्वभावः अभेदस्वभावः भव्यस्वभावः
अभव्यस्वभावः परमस्वभावः एते द्रव्याणामेकादश सामान्यस्वभावाः
चेतनस्वभावः अचेतनस्वभावः मूर्तस्वभावः अमूर्तस्वभावः एक-प्रदेशस्वभावः**

अनेकप्रदेशस्वभावः विभावस्वभावः शुद्ध-स्वभावः अशुद्धस्वभावः

उपचरितस्वभावः एते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावाः ॥२८॥

अन्वयार्थ : स्वभावों का कथन किया जाता है -- १. अस्ति-स्वभाव, २. नास्ति-स्वभाव, ३. नित्य-स्वभाव, ४. अनित्य-स्वभाव, ५. एक-स्वभाव, ६. अनेक-स्वभाव, ७. भेद-स्वभाव, ८. अभेद-स्वभाव, ९. भव्य-स्वभाव, १०. अभव्य-स्वभाव, ११. परम -- स्वभाव ये ग्यारह, द्रव्यों के सामान्य स्वभाव हैं; १. चेतन-स्वभाव, २. अचेतन-स्वभाव, ३. मूर्त-स्वभाव, ४. अमूर्त-स्वभाव, ५. एकप्रदेश-स्वभाव, ६. अनेकप्रदेश-स्वभाव, ७. विभाव-स्वभाव, ८. शुद्ध-स्वभाव, ९. अशुद्ध-स्वभाव, १०. उपचरित-स्वभाव -- ये दस, द्रव्यों के विशेष स्वभाव हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

द्रव्यों के स्वरूप को स्वभाव कहते हैं । तत्काल पर्याय को प्राप्त वस्तु भाव कहलाती है । अथवा वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं ।

प्रश्न – गुणाधिकार कहा जा चुका है फिर स्वभाव अधिकार को पृथक् कहा जा रहा है । इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर – जो गुण है वह गुणी में ही प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न – गुण गुणी में किस प्रकार प्राप्त होते हैं ?

उत्तर – गुण गुणी में अभेद है इसलिये गुण गुणी में ही प्राप्त होते हैं । स्वभाव गुण में भी प्राप्त होते हैं और गुणी में भी प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न – स्वभाव गुण और गुणी में किस प्रकार प्राप्त होते हैं ?

उत्तर – गुण और गुणी अपनी अपनी पर्याय से परिणमन करते हैं । जो परिणति अर्थात् पर्याय है वह ही स्वभाव है । गुण और स्वभाव में यह विशेषता है । इसलिये स्वभाव का स्वरूप पृथक् लिखा गया है ।

- जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, उस अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होना **अस्ति-स्वभाव** है, जैसे अग्नि अपने दाह स्वभाव से कभी च्युत नहीं होती । (आ.प.-१०६)
- पर-स्वरूप नहीं होने के कारण **नास्ति-स्वभाव** है । (सूत्र १०७)
- अपनी अपनी नाना पर्यायों में 'यह वही है' इस प्रकार द्रव्य का हमेशा सद्भाव पाया जाना **नित्य-स्वभाव** है । (सूत्र १०८)
- उस द्रव्य का अनेक पर्याय रूप परिणत होने से **अनित्य-स्वभाव** है । (सूत्र १०७)
- सम्पूर्ण स्वभावों का एक आधार होने से **एकस्वभाव** है । (सूत्र ११०)
- एक ही द्रव्य के अनेक स्वभावों की उपलब्धि होने से **अनेकस्वभाव** है । (सूत्र १११)

- गुण गुणी आदि में संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भेद होने से **भेद-स्वभाव** है । (सूत्र ११२)
- गुण-गुणी आदि में प्रदेश भेद नहीं होने से अथवा एक स्वभाव होने से **अभेद-स्वभाव** है । (सूत्र ११३)
- भाविकाल में आगे की (भावि) पर्यायों के होने योग्य है अथवा अपने स्वरूप से परिणमन करने योग्य है अतः **भव्य-स्वभाव** है । (सूत्र ११४)
- काल-त्रय में भी पीछे की (भूत) पर्यायाकार होने के अयोग्य है अथवा पर-द्रव्य स्वरूपाकार होने के अयोग्य है अतः **अभव्य-स्वभाव** है । (सूत्र ११५)
- पारिणामिक भाव की प्रधानता से **परम-स्वभाव** है । (सूत्र ११६)

ये ग्यारह, सामान्य स्वभाव हैं । विशेष दस स्वभावों में से १. चेतन-स्वभाव, २. अचेतन-स्वभाव, ३. मूर्त-स्वभाव, ४. अमूर्त-स्वभाव, इन चार स्वभावों की व्याख्या सूत्र ९ के विशेषार्थ में हो चुकी है । शेष छह विशेष स्वभावों की व्याख्या निम्न प्रकार है --

- अखण्डपने की अपेक्षा **एकप्रदेश-स्वभाव** है ।
- भेदपने की अपेक्षा **अनेक-प्रदेश-स्वभाव** है ।
- स्वभाव से अन्यथा होना **विभाव-स्वभाव** है । (सूत्र १२१)
- कैवल्य अर्थात् शुद्ध भाव को **शुद्ध-स्वभाव** कहते हैं । (सूत्र १२२)
- शुद्ध-स्वभाव से विपरीत **अशुद्ध-स्वभाव** है । (सूत्र १२२)
- स्वभाव का अन्यत्र उपचार करना **उपचरित-स्वभाव** है, जैसे मार्जार (बिलाव) को सिंह कहना । वह उपचरित स्वभाव दो प्रकार का है १. कर्मज, २. स्वाभाविक । जीव के मूर्तत्व और अचेतनत्व उपचरित-कर्मज-स्वभाव हैं । सिद्धों के सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता स्वाभाविक-उपचरित-स्वभाव है, क्योंकि अनुपचरित नय से जीव के अमूर्त व चेतन स्वभाव हैं और सिद्ध आत्मज्ञ हैं । (सूत्र १२३-१२४)

+ जीव और पुद्गल के भावों की संख्या -

जीवपुद्गलयोरैकविंशतिः ॥२९॥

अन्वयार्थ : जीव में और पुद्गल में उपर्युक्त इक्कीस (११ सामान्य और १० विशेष) स्वभाव पाये जाते हैं ॥३५॥

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

जीव में इक्कीस भाव बतलाये गये हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि जीव में अचेतन-स्वभाव और मूर्त-स्वभाव भी है । इसी प्रकार पुद्गल में भी इक्कीस स्वभाव कहे गये हैं जिससे स्पष्ट है कि पुद्गल में चेतन और अमूर्त स्वभाव भी हैं ।

शंका – छह द्रव्यों में जीव चेतन स्वभाव वाला और शेष पांच द्रव्य (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल-द्रव्य) अचेतन स्वभाव वाले हैं । यदि जीव में भी अचेतन

स्वभाव मान लिया जायगा तो जीव में और अन्य पाँच द्रव्यों में कोई अन्तर नहीं रहेगा ?

समाधान – जीव में अचेतन-धर्म दो अपेक्षा से कहा गया है ।

- जीव में अनन्त गुण हैं । उनमें से चेतन गुण तो चेतनरूप है, अन्य गुण चेतनरूप नहीं हैं, क्योंकि एक गुण में दूसरा गुण नहीं होता है ।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥त.सू.५/४॥

इस सूत्र में गुण का लक्षण बतलाते हुये जो 'निर्गुण' शब्द दिया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक गुण अन्य गुणों से रहित होता है । यदि चेतनगुण के अतिरिक्त अन्यगुणों को भी चेतनरूप मान लिया जाय तो संकर दोष आ जायगा अथवा चेतन के अतिरिक्त अन्यगुणों के अभाव का प्रसंग आ जायगा । इसलिये जीव में चेतनगुण के अतिरिक्त अन्य गुण चेतन रूप नहीं है अर्थात् अचेतन हैं । श्री १०८ अकलंक देव ने स्वरूप सम्बोधन में कहा भी है --

**प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥स्व.सं.३॥**

अर्थ – प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा आत्मा अचित् है और ज्ञान, दर्शन की अपेक्षा से चिदात्मक है । अतएव आत्मा चेतनात्मक भी है और अचेतनात्मक भी है ।

- जीव अनादिकाल से कर्मों से बंधा हुआ है । उन कर्मों ने जीव का चेतनगुण घात रखा है । कहा भी है -

**का वि अउव्वा दीसदि पुगल-दव्वस्स एरिसी सत्ती ।
केवल-णाणसद्दावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥का.अ.२११॥**

अर्थ – पुद्गल-द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है, जिससे जीव का केवलज्ञान-स्वभाव भी नष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार जितने अंशों में चेतनगुण का घात हो रहा है, उतने अंशों में अचेतनभाव है । जीव के पांच स्वतत्त्व-भावों में से एक औदयिक-भाव है, जिसके इक्कीस भेदों में से एक अज्ञान (अचेतन) भी भेद है । कहा भी है -

**औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च
॥त.सू.२/१॥ गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-
लेश्याश्चतुश्चतुस्त्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥त.सू.२/६॥**

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में भी अज्ञान (अचेतन) भी जीव का स्वतत्त्व भाव कहा गया है । क्योंकि जीव का यह अचेतन-भाव द्रव्य-कर्मों के सम्बन्ध से होता है और पौद्गलिक कर्म जीव से भिन्न द्रव्य हैं, इसलिये असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव में अचेतन-भाव है ।

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेणाचेतनस्वभावः ॥आ.प.१६२॥

इसी प्रकार कर्म-बन्ध के कारण जीव मूर्तरूप परिणमन कर रहा है ।

स्पर्शरसगंधवर्णसद्भावस्वभाव मूर्त । स्पर्शरसगंधवर्णाऽभाव-स्वभावममूर्त ।.....अमूर्तः स्वरूपेण जीवः पररूपावेशान्मूर्तोऽपि ॥पं.का.९७.टी.॥

अर्थ – स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण का सद्भाव जिसका स्वभाव है वह मूर्त है; स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है वह अमूर्त है । जीव स्वरूप से अमूर्त है किन्तु पररूप से अनुरक्त होने की अपेक्षा मूर्त भी है ।

**बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत ।
तम्हा अमुत्तिभावोऽणेयंतो होइ जीवरस ॥स.सि.२/७॥**

अर्थ – आत्मा और कर्म, बन्ध की अपेक्षा से एक हैं तो भी लक्षण की अपेक्षा वह भिन्न हैं । इसलिये जीव का अमूर्तिक भाव अनेकान्तरूप है । वह बंध की अपेक्षा से मूर्त है और स्वभाव अपेक्षा से मूर्त नहीं है ।

**कम्म सम्बन्धवसेण पोग्गलभावमुवगयजीवदव्वाणं च पच्चक्खेण परिच्छित्तिं
कुणइ ओहिणाणं ॥ज.ध.१/४३॥**

अर्थ – कर्म के सम्बन्ध से पुद्गल-भाव (मूर्तभाव) को प्राप्त हुये जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं ।

जीव में यह मूर्त भाव पौद्गलिक कर्मों के सम्बन्ध से आया है इसलिये जीव में यह मूर्तभाव असद्भूत-व्यवहारनय का विषय है ।

जीवस्याप्य-सद्भूतव्यवहारेणा मूर्तस्वभावः ॥आ.प.-१६४॥

अर्थ – असद्भूत-व्यवहारनय से जीव के भी मूर्त-स्वभाव है । इसका विशेष कथन सूत्र १०३ की टीका में भी है ।

पुद्गल में चेतन स्वभाव कहने का कारण यह है कि पौद्गलिक कर्म आत्म-परिणामों से अनुरंजित होने के कारण कथंचित् चैतन्य है किन्तु पुद्गल द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा अचेतन है । कहा भी है -

पौरुषेयपरिणामानुरजित्वात् कर्मणः स्याच्चैतन्यम्, पुद्गलद्रव्या-देशाच्च
स्यादचेतनत्वमिति ॥रा.वा.५/१९/२४॥

अर्थ – 'कर्म' पुरुष के परिणामों से अनुरजित होने के कारण कथंचित् चेतन हैं
पुद्गल-द्रव्य की दृष्टि से वह अचेतन हैं ।

आत्मा पुद्गल-द्रव्य से भिन्न दूसरा द्रव्य है । क्योंकि आत्म-परिणामों से अनुरजित
होने के कारण पुद्गल में चेतनभाव है अतः यह असद्भूत व्यवहार-नय का विषय है
। कहा भी है -

असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभावः ॥आ.प.१६०॥

अर्थ – असद्भूत-व्यवहारनय से कर्म नोकर्म के भी चेतनस्वभाव है । सूत्र १६० में
भी पुद्गल के चेतन-स्वभाव बतलाया गया है ।

इसी प्रकार पुद्गल में अमूर्तभाव सिद्ध कर लेना चाहिये ।

+ धर्मादि तीन द्रव्यों में स्वभावों की संख्या -

**चेतनस्वभावः मूर्तस्वभावः विभावस्वभावः अशुद्धस्वभावः उपचरितस्वभावः
एतैर्विना धर्मादि त्रयाणां षोडशस्वभावाः सन्ति ॥३०॥**

अन्वयार्थ : धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य तथा आकाश-द्रव्य इन तीन द्रव्यों में उपर्युक्त २१
स्वभावों में से चेतन-स्वभाव, मूर्त-स्वभाव, विभाव-स्वभाव, उपचरित-स्वभाव और
अशुद्ध-स्वभाव ये पांच स्वभाव नहीं होते, शेष सोलह स्वभाव होते हैं । अर्थात् १ अस्ति-
स्वभाव, २. नास्ति-स्वभाव, ३. नित्य-स्वभाव, ४. अनित्य-स्वभाव, ५. एक-स्वभाव, ६.
अनेक-स्वभाव, ७ भेद-स्वभाव, ८. अभेद-स्वभाव, ९. परम-स्वभाव, १०. एकप्रदेश-
स्वभाव, ११. अनेकप्रदेश-स्वभाव, १२ अमूर्त-स्वभाव, १३. अचेतन-स्वभाव, १४. शुद्ध-
स्वभाव, १५. भव्य-स्वभाव, १६. अभव्य-स्वभाव -- ये १६ स्वभाव होते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्यतः :

धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल-द्रव्य और पुद्गलद्रव्य ये पांचों ही द्रव्य
अचेतन-स्वभाव वाले हैं, मात्र जीव-द्रव्य चेतन-स्वभावी है, किन्तु जीव के साथ बंध को
प्राप्त हो जाने से पुद्गल में तो चेतन-स्वभाव हो जाता है; शेष चार द्रव्य (धर्म-द्रव्य, अधर्म-
द्रव्य, आकाश-द्रव्य और काल-द्रव्य) जीव के साथ बंध को प्राप्त नहीं होते, इसलिये इन
चारों द्रव्यों में चेतन-स्वभाव का निषेध किया गया है ।

मात्र पुद्गल-द्रव्य मूर्तिक है। शेष पांच द्रव्य (जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) अमूर्तिक
हैं, किन्तु पुद्गल के साथ बंध को प्राप्त हो जाने से जीव में मूर्तिक स्वभाव हो जाता है ।

शेष चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) पुद्गल के साथ बंध को प्राप्त नहीं होते, इसलिए इनमें मूर्त-स्वभाव का निषेध किया गया है ।

धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल-द्रव्य ये चारों द्रव्य बंध को प्राप्त नहीं होते इसलिये इनमें विभाव-स्वभाव, उपचरित-स्वभाव और अशुद्ध-स्वभाव भी नहीं होते, क्योंकि अन्य द्रव्य के साथ बंध को प्राप्त होने पर ही द्रव्य अशुद्ध होता है, विभावरूप परिणमता है और कथंचित् उस अन्य द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करने से अन्यद्रव्य के स्वभाव का उपचार होता है । जीव और पुद्गल बंध को प्राप्त होते हैं, इसलिये उनमें विभाव-स्वभाव, उपचरित-स्वभाव और अशुद्ध-स्वभाव का कथन किया गया है ।

+ काल-द्रव्य में स्वभावों की संख्या -

तत्र बहुप्रदेशत्वं विना कालस्य पंचदश स्वभावाः ॥३१॥

अन्वयार्थ : उन सोलह स्वभावों में से बहुप्रदेश-स्वभाव के बिना शेष पन्द्रह स्वभाव काल-द्रव्य में पाये जाते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्यतः :

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये पांच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, इसीलिये इनको पंचास्तिकाय कहा गया है, किन्तु काल-द्रव्य अर्थात् कालाणु एकप्रदेशी है, इसलिये उसको बहुप्रदेशी अर्थात् कायवान् नहीं कहा गया है ।

अजीवकाय धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥त.सू.५/२॥

अर्थ – धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य पुद्गल-द्रव्य ये चारों अजीव भी हैं और कायवान भी हैं ।

जीव पुद्गल, धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य यद्यपि बहुप्रदेशी हैं तथापि अखण्ड की अपेक्षा से इनमें एकप्रदेशी-स्वभाव भी है ।

यद्यपि पुद्गल परमाणु भी एकप्रदेशी है तथापि स्निग्ध-रूक्ष गुण के कारण वह पुद्गल परमाणु बंध को प्राप्त होने पर बहुप्रदेशी हो जाता है, इसलिये पुद्गल परमाणु उपचार से बहुप्रदेशी है । कहा भी है --

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि ।

बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥द.सं.-२६॥

अर्थ – एकप्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कंधरूप बहुप्रदेशी हो सकता है । इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से पुद्गल परमाणु को काय (बहुप्रदेशी) कहते हैं ।

स्निग्ध रूक्ष गुण न होने के कारण कालाणु बंध को प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये उपचार से भी बहुप्रदेशी नहीं है ।

एकविंशतिभावाः स्युर्जीवपुद्गलयोर्मताः ।
धर्मादीनां षोडश स्युः काले पंचदश स्मृताः ॥३॥

अर्थ – जीव और पुद्गल द्रव्यों में इक्कीस, धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यों में सोलह तथा काल द्रव्य में पन्द्रह स्वभाव जानना चाहिये ।

॥ इति स्वाभावविकार ॥

+ प्रश्न -

ते कुतो ज्ञेयाः ? ॥३२॥

अन्वयार्थ : वे इक्कीस प्रकार के स्वभाव कैसे जाने जाते हैं, अर्थात् किसके द्वारा जाने जाते हैं ?

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

स्वभावों को जानने के उपाय क्या है?

प्रमाण अधिकार

+ उत्तर -

प्रमाणनयविवक्षातः ॥३३॥

अन्वयार्थ : प्रमाण और नय की विवक्षा के द्वारा उन इक्कीस स्वभावों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

प्रमाणनयैरधिगमः ॥त.सू.१/६॥

अर्थ – प्रमाण व नय के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है ।

+ प्रमाण का लक्षण -

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ॥३४॥

अन्वयार्थ : सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं । समीचीन ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

**अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥र.क.श्रा.४२॥**

अर्थ – जो ज्ञान न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित और सन्देह रहित, जैसा का तैसा जानता है, शास्त्र के ज्ञाता पुरुष उसको सम्यक्ज्ञान कहते हैं ।

- अनादि को सादि रूप जानना,
- अनन्त (अन्त रहित) को सान्त रूप जानना,
- अविद्यमान पर्याय को विद्यमान रूप से जानना,
- अभाव रूप पर्यायों को सद्भाव रूप से जानना,
- अनियत को नियत रूप जानना

सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि उसने यथार्थ नहीं जाना है ।

+ प्रमाण के भेद -

तद्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥३५॥

अन्वयार्थ : प्रत्यक्ष-प्रमाण और इतर अर्थात् परोक्ष-प्रमाण के भेद से वह प्रमाण दो प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

तत्त्वार्थसूत्र में भी 'तत्प्रमाणे ॥त.सू.१/१०॥' इस सूत्र द्वारा प्रमाण के दो भेद बतलाये हैं । इतर से अभिप्राय परोक्ष का है ।

अनुमान, उपमान, शब्द प्रमाण परोक्षप्रमाण हैं । जो इन्द्रिय ज्ञान है वह परोक्षप्रमाण है, प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष । 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा', इस प्रकार अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा है । केवल आत्मा के प्रति जो नियत है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं । (स.सि. १/१२)

जो ज्ञान इन्द्रिय आदि और प्रकाश आदि की सहायता के बिना पदार्थों को स्पष्ट जानता है उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । कहा भी है -

**इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमुक्तमव्यभिचारि च ।
साकारग्रहणं यत्स्यात्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते ॥त.सा.१/१७॥**

अर्थ – इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की अपेक्षा से रहित और व्यभिचार रहित जो पदार्थों का साकार ग्रहण है उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है । सकल प्रत्यक्ष जो केवलज्ञान वह सिद्ध व अरहंत भवागन के ही होता है ।

परोक्ष=परः+अक्ष । आत्मा से भिन्न इन्द्रियादि जो पर, उनकी सहायता की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है । कहा भी है - 'पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च

**बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं
परोक्ष-मित्याख्यायते ॥स.सि.१/११॥**

अर्थ – मतिज्ञानावरण ओर श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के, इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेशादिक बाह्यनिमित्तों की सहायता से, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतः ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं ।

पराणीन्द्रियाणि आलोकदिश्च, परेषामायत्तं ज्ञानं परोक्षम् ॥ध.१३/२१२॥

अर्थ – पर का अर्थ इन्द्रियां और आलोकादि हैं, और पर अर्थात् इन इन्द्रियादि के अधीन जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान है ।

**समुपात्तानुतस्य प्राधान्येन परस्य यत् ।
पदार्थानां परिज्ञानं तत्परोक्षमुदाहृतम् ॥त.सा.१६॥**

अर्थ – अपने से भिन्न जो समुपात्त इन्द्रियाँदि और अनुपात्त प्रकाशादि (निमित्तों) की मुख्यता से जो पदार्थों का ज्ञान वह परोक्ष कहा जाता है ।

प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं, सकल प्रत्यक्ष और एकदेश प्रत्यक्ष । अब एकदेश-प्रत्यक्ष ज्ञान का कथन करते हैं --

+ एकदेश प्रत्यक्ष कितने -

अवधिमनःपर्ययावेकदेशप्रत्यक्षौ ॥३६॥

अन्वयार्थ : अवधि-ज्ञान और मनःपर्यय-ज्ञान ये दोनों एकदेश प्रत्यक्ष हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

अवधि का अर्थ मर्यादा या सीमा है । जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए ज्ञान है वह अवधिज्ञान है । कहा भी है --

अवधिर्मर्यादा सीमेत्यर्थः । अवधिसहचरितं ज्ञानअवधिः । अवधिश्च सः ज्ञानं च
तदवधिज्ञानम् । नातिव्याप्तिः रूढिबलाधानवशेन क्वचिदेव ज्ञाने
तस्यावधिशब्दस्य प्रवृत्तेः । किमटंठ तत्थ आहिसद्दो परूविदो ? ण; एदम्हादो
हेठ्ठिमसव्वणाणाणि सावहियाणि उवरिमणाणं णिरवहियमिदि जाणावणठ्ठं ।
ण मणपज्जवणाणेण वियहिचारो; तस्स वि अवहिणाणादो अप्पविसयत्तेण
हेठ्ठिमतब्भुव गमादो । पश्रोगस्स पुण ठ्ठणविवज्जासो संजमसहगयत्तेण कयवि-
मेसपटुप्पाणफलोत्ति ण कोच्छि दोसो । ॥ज.ध.१/१७॥

अर्थ – अवधि, मर्यादा और सीमा ये शब्द एकार्थवाची हैं । अवधि से सहचरित ज्ञान भी अवधि कहलाता है इस प्रकार अवधिरूप जो ज्ञान है वह अवधिज्ञान है । यदि कहा जाय कि अवधिज्ञान का लक्षण इस प्रकार करने पर मतिज्ञान अलक्ष्यों में यह लक्षण चला जाता है, इसलिये अतिव्याप्ति दोष प्राप्त होता है, सो ऐसा नहीं है, क्योंकि रूढि की मुख्यता से किसी एक ही ज्ञान में अवधि शब्द की प्रवृत्ति होती है । अवधिज्ञान से नीचे के सभी ज्ञान सावधि हैं और ऊपर का केवलज्ञान निअवधि है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये अवधिज्ञान में अवधि शब्द का प्रयोग किया है । यदि वहा जाय कि इस प्रकार का कथन करने पर मनःपर्ययज्ञान से व्यभिचार दोष आता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान से भी अवधिज्ञान से अल्प विषय वाला है, इसलिये विषय की अपेक्षा उसे अवधिज्ञान से नीचे का स्वीकार किया है । फिर भी संयम के साथ रहने के कारण मनःपर्ययज्ञान में जो विशेषता आती है उस विशेषता को दिखलाने के लिये मनःपर्ययज्ञान को अवधिज्ञान से नीचे न रखकर ऊपर रखा है, इसलिये कोई दोष नहीं है । वह अवधिज्ञान तीन प्रकार का है- देशाविध, परमावधि और सर्वावधि । अथवा दो प्रकार का है -- भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय । अथवा छह प्रकार का है – हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी और अननुगामी ।

अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है । कहा भी है-

रूपिष्ववधेः ॥त.सू.१/२७॥

इसलिये अवधिज्ञान पुद्गल द्रव्य और संसारी जीव को जानता है ।

कहा भी है --

परमाणुपज्जंतासेसपोग्गलदव्वाणमसंखेज्जलोगमेत्तखेत्त कालभा-वाणं
कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगयजीवदव्वणं च पञ्चक्खेण परिच्छित्तिं कुणइ
ओहिणाणं ॥ज.ध.१/४३॥

अर्थ – महास्कंध से लेकर परमाणु पर्यन्त समस्त पुद्गल द्रव्यों को असंख्यात-लोकप्रमाण क्षेत्र को, असंख्यात-लोकप्रमाण काल की और असंख्यात-लोकप्रमाण भावों को तथा कर्म के सम्बन्ध से पुद्गल भाव की प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं ।

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५९२ में 'रूपी जीवा' शब्दों द्वारा संसारी को रूपी कहा है तथा २१ स्वभावों में जीव के मूर्त-स्वभाव कहा है इसलिए संसारी जीव अवधिज्ञान का विषय बन जाता है ।

धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल-द्रव्य और सिद्ध-जीव ये अवधि-ज्ञान के विषय नहीं हैं । (ध.१५/७व३२)

**णेरइयदेवतित्थयरोहिक्खेतरसबाहिरं एदे ।
जाणंति सव्वदो खलु सेसा देसेण जाणंति ॥ध.१३/२९५॥**

अर्थ – नारकी, देव और तीर्थकर का अवधिज्ञान सर्वांग से जानता है और शेष जीवों का अवधिज्ञान शरीर के एकदेश से जानता है ।

**मनःपर्ययज्ञान -- परकीयमनोगतोऽर्थो मनः, मनसः पर्यायाः विशेषाः मनःपर्यायाः,
तान् जानातीति मनःपर्ययज्ञानम् ।.....एदं वयणं देसामासिथं । कुदो ?
अचिंतियाणमद्धचिंतियाणं च अत्थाणमवग-मादो । अथवा मणपज्जवसण्णा जेण
रूढिभवा तेण चिंतिए वि अचिंतिए वि अत्थे वट्टमाणणाणविसया त्ति घेत्तव्वा ।
ओहिणाणं व एदं पि पच्चक्खं, अर्णिदियजत्तादो ॥ध.१३/२१२॥**

अर्थ – परकीय मन को प्राप्त हुए अर्थ का नाम मन है और मन की (मनोगतार्थ की) पर्यायों अर्थात् विशेषों का नाम मनःपर्यय है । उन्हें जो जानता है वह मनःपर्यय ज्ञान है । यह वचन देशामर्षक है, क्योंकि इससे अचिन्तित और अर्धचिन्तित अर्थों का भी ज्ञान होता है । अथवा मनःपर्यय यह संज्ञा रुढिजन्य है, इसलिये चिन्तित और अचिन्तित दोनों प्रकार के अर्थ में विद्यमान ज्ञान को विषय करने वाली यह संज्ञा है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये । अवधिज्ञान के समान यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि यह इन्द्रियों से नहीं उत्पन्न होता ।

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥त.सू.१/२३॥

अर्थ – ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मनःपर्यय ज्ञान दो प्रकार का है । ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान ऋजुमनोगत अर्थ को विषय करता है, ऋजु-वचनगत अर्थ को विषय करता है और ऋजुकायगत अर्थ को विषय करता है (ध.१३/३२९सू६२) । विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान ऋजुमनोगत अर्थ को जानता है, अनृजुमनोगत अर्थ को जानता है,

ऋजुवचनगत अर्थ को जानता है, अनृजुवचनगत अर्थ को जानता है, ऋजुकायगत अर्थ को जानता है, और ऋनृजुकायगत अर्थ को जानता है । (ध.१३सू.७०/३४०)

ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानी काल की अपेक्षा जघन्य से दो-तीन भव और उत्कर्ष से सात और आठ भवों को जानता है, क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से आठ-कोस भीतर की बात और उत्कर्ष से आठ-योजन के भीतर की बात जानता है, बाहर की नहीं जानता । (ध. १३/३३८-३३९)

विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से सात आठ भवों और उत्कर्ष से असंख्यात भवों को जानता है, क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से आठ योजन और उत्कर्ष से मानुषोत्तरशैल अर्थात् ४५ लाख योजन के भीतर की बात को जानता है। (ध. १३/३४२-३४३)

+ सकल-प्रत्यक्ष कितने -

केवलं सकलप्रत्यक्षं ॥३७॥

अन्वयार्थ : केवल-ज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

चार घाति-कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है । कहा भी है -

मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम् ॥त.सू.१०/१॥

अर्थ – मोहनीय कर्म के क्षय होने से, पुनः ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घाति कर्मों का युगपत् क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है । उस केवलज्ञान का विषय मूर्त-अमूर्त आदि सर्वद्रव्य और उनकी भूत-भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल की सर्व पर्यायें हैं । कहा भी है --

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥त.सू.१/२९॥

अर्थ – केवलज्ञान का विषय सर्व-द्रव्य और सर्व-पर्यायें हैं ।

**तत्कालिगेव सव्वे सदसम्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥प्र.सा.३७॥**

अर्थ – उन जीवादि समस्त द्रव्यों की सर्व विद्यमान पर्यायों को और अविद्यमान पर्यायों को तात्कालिक अर्थात् वर्तमान पर्याय की तरह विशेषता सहित ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान जानता है ।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने इसका दृष्टान्त देते हुए कहा है -

**दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः
संविदालंबितस्तदाकारः ॥प्र.सा.३७.टी॥**

अर्थ – जगत में देखा जाता है कि छद्मस्थों का ज्ञान भी जैसे वर्तमान वस्तु का चिंतन करते हुए उसके आकार का अवलम्बन करता है उसी प्रकार भूत और भविष्यत् वस्तु का चिंतन करते हुए उसके आकार का अवलम्बन करता है ।

श्री अनन्तवीर्य आचार्य ने कहा है-

कथमतीन्द्रियज्ञानस्य वैशद्यमिति चेत् ? यथा सत्यस्वप्नज्ञानस्य भावनाज्ञानस्य चेति । दृश्यते हि भावनावलादेतद् देशः वस्तुजोऽपि विशददर्शनमिति ॥प्र.र.मा. २/१२.टी.

अर्थ – अतीन्द्रिय ज्ञान के विशदता कैसे सम्भव है ? जैसे कि सत्य स्वप्न ज्ञान के और भावना (मानसिक) ज्ञान के विशदता सम्भव है । भावना के बल से दूरदेशवर्ती दूरकालवर्ती (अतीत, अनागत) वस्तु का भी विशद दर्शन पाया जाता है ।

अर्थात् जिस प्रकार छद्मस्थ भी भावना का चिंतन के बल से अतीत अनागत पर्यायों को स्पष्ट जान लेता है उसी प्रकार केवली भी केवलज्ञान के बल से अतीत अनागत पर्यायों को स्पष्ट जानते हैं । किन्तु अतीत और अनागत पर्यायों ज्ञान का विषय हो जाने मात्र से विद्यमान या सद्भाव रूप नहीं हो जातीं, क्योंकि छद्मस्थज्ञान भी और केवलज्ञान भी अविद्यमान (अतीत, अनागत) पर्यायों को अविद्यमान (अभाव) रूप से जानता है, इसका कारण यह है कि द्रव्य में मात्र वर्तमान पर्याय का सद्भाव रहता है और शेष पर्यायों का अभाव अर्थात् प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव रहता है । सर्वथा अभाव नहीं है, क्योंकि वे शक्तिरूप से रहती हैं ।

श्री वीरसेन आचार्य ने जयधवल में केवलज्ञान की निम्न प्रकार विशद व्याख्या की है-

केवलमसहायं इन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षत्वात् । आत्मसहाय-सिति न तत्केवलमिति चेत् ? न, ज्ञानव्यतिरिक्तात्मनोऽसत्त्वात् । अर्थ – सहायत्वान्न केवलमिति चेत् ? न, विनष्टानुत्पन्नातीतानागतार्थेष्वपि तत् प्रवृत्त्युपलम्भात् । असति प्रवृत्तौ खरविषाणेऽपि प्रवृत्तिरस्त्विति चेत् ? न, तस्य भूतभविष्यच्छक्तिःरूपतयाऽप्यसत्त्वात् । वर्तमानपर्याय-याणामेव किमित्यर्थत्वमिष्यतः इति चेत् ? न, 'अर्यते परिच्छिद्यते' इति न्यायतस्तत्रार्थत्वोपलम्भात् । तदनागतातीतपर्यायेष्वपि समान-मिति चेत् ? न, तद् ग्रहणस्य वर्तमानार्थग्रहणपूर्वकत्वात् । आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम् । केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम् ॥ज.ध.१/२१-२३॥

अर्थ – असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार की अपेक्षा से रहित है ।

शंका – केवलज्ञान आत्मा की सहायता से होता है, इसलिये उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते ?

समाधान – नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न आत्मा का सत्व नहीं है, इसलिये केवलज्ञान असहाय है ।

शंका – केवलज्ञान अर्थ की सहायता लेकर प्रवृत्त होता है इसलिये केवल अर्थात् असहाय नहीं है ?

समाधान – नहीं, नष्ट हुए अतीत पदार्थों में और अनुत्पन्न अनागत पदार्थों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिये केवलज्ञान अर्थ की सहायता से नहीं होता ।

शंका – यदि विनष्ट और अनुत्पन्नरूप असत् पदार्थों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है तो खरविषाण में भी उसकी प्रवृत्ति होनी चाहिये ?

समाधान – नहीं, क्योंकि खरविषाण का जिस प्रकार वर्तमान में सत्व नहीं पाया जाता है, उसी प्रकार उसका भूतशक्ति और भविष्यत्शक्ति:रूप से भी सत्त्व नहीं पाया जाता, अतः उसमें केवलज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

शंका – वर्तमान पर्यायों को ही अर्थ क्यों स्वीकार किया जाता है ? अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायों को अर्थ क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान – नहीं, क्योंकि 'जो जाना जाता है उसको अर्थ कहते हैं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पर्यायों में अर्थपना पाया जाता है ।

शंका – वर्तमान पर्याय के समान अतीत और अनागत पर्यायों में भी यह व्युत्पत्ति-अर्थ पाया जाता है अर्थात् जिस प्रकार वर्तमान पर्यायें जानी जाती हैं उसी प्रकार अतीत और अनागत पर्यायें भी जानी जाती हैं, अतः अतीत और अनागत पर्यायों को भी अर्थ कहना चाहिये ?

समाधान – नहीं, क्योंकि अतीत और अनागत पर्यायों का ग्रहण (ज्ञान) वर्तमान अर्थ के ग्रहण पूर्वक होता है इसलिये अतीत, अनागत पर्यायों की 'अर्थ' संज्ञा स्वीकार नहीं की गई ।

केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त इन्द्रियादि की सहायता की अपेक्षा से रहित है, इसलिये भी वह केवल अर्थात् असहाय है । केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसको केवलज्ञान समझना चाहिये । (ज.ध.१/२१-२४)

जिस प्रकार से वर्तमान पर्याय की 'अर्थ' संज्ञा है यदि उसी प्रकार अतीत और अनागत पदार्थों की भी 'अर्थ' संज्ञा होती तो ज्ञेयों के परिणमन के कारण केवलज्ञान में परिणमन सम्भव नहीं हो सकता था । ज्ञेयों के परिणमन अनुसार केवलज्ञान में भी परिणमन होता है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि निम्न आर्षवाक्यों से यह सिद्ध है -

ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भगडत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परि-च्छित्यपेक्षया भगडत्रयेण परिणमति ॥प्र.सा.८-टी.

अर्थ – जिस प्रकार ज्ञेय पदार्थों में प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहता है उसी के अनुसार केवलज्ञान में भी जानने की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहता है ।

येन येनोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं ज्ञेयपदार्थाः परिणमन्ति तत्परिच्छित्याकारेणानीहितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि परिणमति तेन कारणेनोत्पादव्ययन्वम् ॥वृ.द्र.सं.१४.टी.॥

अर्थ – ज्ञेय पदार्थ जिस जिस प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप से प्रतिक्षण परिणमन करते हैं, उसी उसी प्रकार से सिद्धों का केवलज्ञान भी उन उन ज्ञेय- पदार्थों के जानने रूप आकार से विना इच्छा परिणमन करता है ।

ण च णाणविसेसदुवारेण उप्पज्जमाणस्स केवलणाणंसस्स केवल-णाणत्तं फिट्ठिदिः, पमेयवसेण परियतमाणसिद्धजीवणाणंसाणं पि केवलणाणत्ताभावप्पसंगादो । ॥ज.ध.१/५०-५१॥

अर्थ – यदि कहा जाय कि केवलज्ञान का अंश ज्ञानविशेष रूप से उत्पन्न होता है, इसलिये उसका केवलज्ञानत्व हो नष्ट हो जाता है, तो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर पमेय के पिमित से परिवर्तन करने वाले सिद्धजीवों के ज्ञानांशों को भी केवलज्ञान के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है । अर्थात् यदि केवलज्ञान के अंश मतिज्ञानादि ज्ञानविशेष रूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनमें केवलज्ञान नहीं माना जा सकता है तो प्रमेयों के निमित्त से सिद्धजीवों के ज्ञान में परिवर्तन होता है, अतः सिद्धों का ज्ञान भी केवलज्ञान नहीं बनेगा ।

प्रतिक्षणं विवर्तमानानर्थानपरिणामि केवलं कथं परिच्छिनत्तीति चेत्त्र, ज्ञेयसमविपरिवर्तिनः केवलस्य तद् विरोधात् ॥ध.१/१९८॥

अर्थ – अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक क्षण में परिवर्तनशील पदार्थों को कैसे जानता है ? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञेय पदार्थों को जानने के लिये तदनुकूल परिवर्तन करने वाले केवलज्ञान के ऐसे परिवर्तन मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है ।

इस प्रकार जो पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती हैं उनको केवलज्ञान सद्भाव रूप से जानता है । और जो उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुकी हैं या उत्पन्न नहीं हुई हैं उनको अभाव रूप से जानता है अन्यथा ज्ञेयों के परिणमन के अनुकूल केवलज्ञान में परिणमन नहीं बन सकता ।

+ परोक्ष कितने -

मतिश्रुते परोक्षे ॥३८॥

अन्वयार्थ : मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्ष-ज्ञान हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इसलिये मतिज्ञान परोक्ष है । कहा भी है --

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् । ॥त.सू.१/१४॥

अर्थ – उस मतिज्ञान में इन्द्रियों और मन निमित्त होते हैं, अर्थात् वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखता है ।

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥त.सू.१/२०॥

अर्थ – मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है ।

इस प्रकार आत्मा से पर जो इन्द्रिय और मन, उनकी सहायता की अपेक्षा रखने से मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान परोक्ष है ।

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥त.सू.१/२६॥

अर्थ – मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सर्व द्रव्यों की असर्वपर्यायें हैं, अर्थात् द्रव्यों की त्रिकालवर्ती कुछ पर्यायों को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जानते हैं ।

॥ इस प्रकार प्रमाण का स्वरूप कहा गया ॥

नय अधिकार

+ नय की परिभाषा -

तदवयवा नयाः ॥३९॥

अन्वयार्थ : प्रमाण के अवयव नय हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

आगे सूत्र १८१ में 'प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थेकांशो नयः ।' इन शब्दों द्वारा यह कहा गया है कि जो प्रमाण के द्वारा ग्रहण की हुई वस्तु के एक अंश को ग्रहण करे वह नय है ।

प्रमाणपरिगृहीतार्थेकदेशे वस्त्वध्यवसायो नमः ॥ध.१/८३॥

अर्थ – प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक वंश में वस्तु का निश्चय करने वाला ज्ञान नय है ।

नय के इस लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाण के अवयव नय है । सूत्र १८१ में नय का लक्षण विभिन्न प्रकार से कहा गया है ।

+ नय के भेद -

नयभेदा उच्यन्ते ॥४०॥

अन्वयार्थ : नय के भेदों को कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

**णिच्छयबवहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेऊ, दव्वयपज्जत्थिया मुणह ॥ण.च.४॥**

अर्थ – सम्पूर्ण नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो मूल भेद हैं । निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन का हेतु अर्थात् व्यवहार का हेतु पर्यायार्थिक नय है ।

विशेषार्थ – निश्चय नय द्रव्य में स्थित है और व्यवहारनय पर्याय में स्थित है ।

व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रित्वान्, निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रित्वात् ॥स.सा.५६.टी.

अर्थ – व्यवहारनय पर्याय के आश्रय है और निश्चयनय द्रव्य के आश्रय है । अर्थात् निश्चयनय का विषय द्रव्य है और व्यवहारनय का विषय पर्याय है ।

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयठटो ॥गो.जी.५७२॥

अर्थ – व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये सब एकार्थवाची शब्द हैं । क्योंकि निश्चयनय का विषय द्रव्य है और व्यवहारनय का विषय पर्याय है, इसलिये यह कहा गया है कि निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और व्यव-हार का हेतु पर्यायार्थिक नय है ।

आगे सूत्र २०४ में बतलाया है कि अभेद और अनुपचार रूप से जो वस्तु का निश्चय करे वह निश्चयनय है । सूत्र २०५ में बतलाया है कि भेद और उपचार से जो वस्तु का व्यवहार करे सो व्यवहार नय है ।

इस प्रकार नय के मूलभेद दो हैं १. निश्चयनय २. व्यवहारनय अथवा

णिच्छयसाहणहेओ इति पाठांतरम् । पज्जयदव्वत्थियं इति पाठांतरम् ॥न.च.॥

१. द्रव्यार्थिक नय २. पर्यायार्थिक नय । इन दोनों नयों के आश्रय से ही भगवान् का उपदेश हुआ है ।

द्वौ हि मयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किंतु तदुभयायत्ता ॥पं.का.४.टी.॥

अर्थ – भगवान् ने दो नय कहे हैं -- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । वहां कथन एक नय के अधीन नहीं होता, किन्तु दोनों नयों के अधीन होता है ।

+ नय के भेद -

**द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकः नैगमः संग्रहः व्यवहारः ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढः
एवंभूत इति नव नयाः स्मृताः ॥४१॥**

अन्वयार्थ : द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ नय, एवंभूत नय ये नव नय माने गये हैं ॥४१॥

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

इन नयों का स्वरूप इस प्रकार है --

द्रव्यार्थिक नय

द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है । (स.सि.१/६) । द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है, इस को विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय है (स.सि.१/३३) । जो उन उन पर्यायों को प्राप्त होता है, प्राप्त होगा अथवा प्राप्त हुआ था वह द्रव्य है । द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक नय है । (ध.१/८३)

आगे सूत्र १८४ में भी द्रव्यार्थिक नय का लक्षण इसी प्रकार कहा है ।

पर्यायार्थिक नय

पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः ॥आ.प.१९१॥ (स.सि.१/६)

अर्थ – पर्याय ही जिस नय का प्रयोजन है, वह पर्यायार्थिक नय है । पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्त है, इसको विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है (स.सि. १/३३) । अथवा 'परि' जो कालकृत भेद को प्राप्त होता है उसे पर्याय कहते हैं । वह पर्याय जिस नय का प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है । (ध.१/८४)

तिथ्यर-वयण संग्रह-विसेस-पत्थार-मूल-वायरणी ।

दव्वट्टिओ य पज्ज्य-णयो य सेसा वियप्पा सिं ॥ (ध.१/१२)

अर्थ – तीर्थकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है । शेष सभी नय इन दोनों नयों के विकल्प अर्थात् भेद है ।

नैगम नय

द्रव्यार्थिक नयः स त्रिविधो नैगम-संग्रह-व्यवहारभेदेन । पर्यायार्थिको नयश्चतुर्विधः ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूतभेदेन । (ध.१/१७०-१७१)

अर्थ – द्रव्यार्थिक नय है, वह नैगम, संग्रह और व्यवहार के भेद से तीन प्रकार है । पर्यायार्थिक नय ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत के भेद के चार प्रकार का है ।

ऋजुसूत्र नय अर्थनय है और शब्द, समभिरूढ, एवंभूत ये तीन, व्यञ्जन नय हैं, क्योंकि इनमें शब्द की मुख्यता है । कहा भी है --

पर्यायार्थिको द्विविधः अर्थनयो व्यञ्जननयश्चेति । (ध.१/८५)

नैगमनय

'नैकं गच्छतीति निगमः, निगमो विकल्पः' जो एक को ही प्राप्त नहीं होता अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है, वह निगम है । निगम का अर्थ विकल्प है । जो विकल्प को ग्रहण करे, वह नैगम नय है । 'अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नय नैगम है । यथा हाथ में फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुष को देखकर कोई अन्य पुरुष पूछता है - आप किस काम के लिये जा रहे हैं ? वह कहता है -- प्रस्थ लेने के लिये जा रहा हूँ । यद्यपि उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है, तथापि प्रस्थ बनाने के संकल्प मात्र से उसमें प्रस्थ व्यवहार किया गया है । तथा ईंधन और जल आदि के लाने में लगे हुए

किसी पुरुष से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं ? उसने कहा- भात पका रहा हूँ । उस समय भात पर्याय सन्निहित नहीं है, केवल भात के लिये किये गये व्यापार में भात का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार का जितना व्यवहार अनिष्पन्न अर्थ के अवलम्बन से संकल्प मात्र को विषय करता है वह सब नैगम नय का विषय है । (स.सि.१/३३)

संग्रह नय

जो नय अभेद रूप से सम्पूर्ण वस्तु समूह को विषय करता है वह संग्रह-नय है ।

भेद सहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सब को ग्रहण करने वाला नय संग्रह नय है । यथा- सत्, द्रव्य और घट आदि । 'सत्' कहने पर सत् इस प्रकार के वचन और विज्ञान की अनुवृत्ति रूप लिये से अनुमित सत्ता के आधारभूत सब पदार्थों का सामान्य रूप से संग्रह हो जाता है । 'द्रव्य' ऐसा कहने पर भी 'उन-उन पर्यायों को द्रव्यता है, प्राप्त होता है' इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से युक्त जीव, अजीव और उनके सब भेद प्रभेदों का संग्रह हो जाता है । तथा 'घट' ऐसा कहने पर घट, इस प्रकार की बुद्धि और घट, इस प्रकार के शब्द की अनुवृत्ति रूप लिंग से अनुमित सब घट पदार्थों का संग्रह हो जाता है । (स.सि.१/३३)

व्यवहार नय

संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थ को भेद रूप से व्यवहार करता है, ग्रहण करता है, वह व्यवहार नय है ।

संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहारनय है । सर्व संग्रह नय के द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गई है, वह अपने उतर भेदों के बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इस लिये व्यवहारनय का आश्रय लिया जाता है । यथा-संग्रह नय का विषय जो द्रव्य है, वह जीव अजीव की अपेक्षा किये बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इसलिये जीव द्रव्य है और अजीव द्रव्य है, इस प्रकार के व्यवहार का आश्रय लिया जाता है । जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य भी जब तक संग्रहनय के विषय रहते हैं तब तक वे व्यवहार कराने में असमर्थ हैं, इसलिये व्यवहार से जीव द्रव्य के देव नारकी आदि रूप और अजीव द्रव्य के घटादि रूप भेदों का आश्रय लिया जाता है । इस प्रकार इस नय की प्रवृत्ति वहां तक होती है जहां तक वस्तु में फिर कोई विभाग करना सम्भव नहीं रहता । (सर्वार्थसिद्धि १/३)

इस व्यवहार नय में कालकृत भेद नहीं होता है ।

ऋजुसूत्र नय

जो नय सरल को सूत्रित करता है अर्थात् ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है ।

ऋजुसूत्र नय अतीत और अनागत तीनों कालों के विषयों को ग्रहण न करके वर्तमान काल के विषयभूत पदार्थों को ग्रहण करता है, क्योंकि अतीत के विनष्ट और अनागत के अनुत्पन्न होने से उनमें व्यवहार नहीं हो सकता । वह वर्तमान काल समय मात्र है और उसके विषयभूत पर्यायमात्र को विषय करने वाला ऋजुसूत्र नय है । (स.सि.१/३३)

ऋजुसूत्र नय का विषय पच्यमान पक्व है । जिसका अर्थ कथंचित् पच्यमान और कथंचित् उपरतपाक होता है । जिसने अंश में वह पक चुकी है उसकी अपेक्षा वह वस्तु पक्व अर्थात् कथंचित् उपरतपाक है और अन्तिम पाक की समाप्ति का अभाव होने की अपेक्षा अर्थात् पूरा पाक न हो सकने की अपेक्षा वही वस्तु पच्यमान भी है ऐसा सिद्ध होता है । इसी प्रकार कियमाण-कृत, मुज्यमान-मुक्त, बध्यमान-बद्ध और सिद्धभत्-सिद्ध आदि व्यवहार भी घटित हो जाता है । (ज.ध.१/२२३-२२४)

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा जिस समय प्रस्थ से धान्य मापे जाते हैं, उसी समय वह प्रस्थ है । इस नय की दृष्टि में 'कुंभकार' संज्ञा भी नहीं बन सकती, क्योंकि शिवक आदि पर्यायों को करने से उनके कर्ता को 'कुंभकार' यह संज्ञा नहीं दी जा सकती । ठहरे हुए किसी पुरुष से 'आप कहां से आ रहे हो' इस प्रकार प्रश्न होने पर । कहीं से भी नहीं आ रहा हूँ' इस प्रकार यह ऋजु-सूत्र नय मानता है, क्योंकि जिस समय प्रश्न किया गया उस समय आगमन रूप किया नहीं पाई जाती । (ज.ध.१/२२५)

तथा इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में 'काक कृष्ण होता है' यह व्यवहार भी नहीं बन सकता है, क्योंकि जो कृष्ण है वह कृष्णरूप ही है, काकरूप नहीं है । यदि कृष्ण को काकरूप माना जाय तो भ्रमर आदिक को भी काक-रूप मानने की आपत्ति प्राप्त होती है । उसी प्रकार काक भी काकरूप ही है कृष्णरूप नहीं है, क्योंकि यदि काक को कृष्णरूप माना जाय तो काक के पीले पित्त सफेद हड्डी और लाल रूधिर आदिक को भी कृष्णरूप मानने की आपत्ति प्राप्त होती है । (ज.ध.१/२२६)

इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से विशेषण-विशेष्य भाव भी नहीं बनता है, क्योंकि भिन्न दो पदार्थों में तो विशेषण-विशेष्य भाव बन नहीं सकता, क्योंकि भिन्न दो पदार्थों में विशेषण-विशेष्य भाव मानने पर अव्यवस्था की आपत्ति प्राप्त होती है, अर्थात् जिन किन्हीं दो पदार्थों में भी विशेषण-विशेष्य भाव नहीं बन सकता, क्योंकि अभिन्न दो पदार्थों का अर्थ एक पदार्थ ही होता है और एक पदार्थ में विशेषण-विशेष्य भाव के मानने में विरोध आता है । (ज.घ.१/२२९)

इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध नहीं बनता है । इसीलिये सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार की उपाधियों से रहित केवल शुद्ध परमाणु ही है, अतः जो स्तंभादिकरूप स्कन्धों का प्रत्यय होता है वह ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में भ्रान्त है, तथा वह परमाणु निरवयव है, क्योंकि परमाणु के उर्ध्वभाग, अधोभाग और मध्यभाग

आदि अवयवों के मानने पर अनवस्था दोष की आपत्ति प्राप्त होती है और परमाणु को अपरमाणुपने का प्रसंग प्राप्त होता है । (ज.ध.१/२३०)

इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में बन्ध्य-बन्धक भाव, वध्य-घातक भाव, दाह्य-दाहकभाव और संसारादि कुछ भी नहीं बन सकते । (ज.ध.१/२२८)

इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में ग्राह्य-ग्राहकभाव भी नहीं बनता है । ज्ञान से असंबद्ध अर्थ का तो ग्रहण होता नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अव्यवस्था दोष की आपत्ति प्राप्त होती है। अर्थात् असम्बद्ध अर्थ का ग्रहण मानने पर किसी भी ज्ञान से किसी भी पदार्थ का ग्रहण हो जायगा । तथा ज्ञान से सम्बद्ध अर्थ का भी ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि वह ग्रहण काल में रहता नहीं है। यदि कहा जाय कि अतीत होने पर भी उसका ज्ञान के साथ कार्य-कारणभाव सम्बन्ध पाया जाता है, अतः उसका ग्रहण हो जायगा ; सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर चक्षुइन्द्रिय से व्यभिचार दोष आता है । अर्थात् पदार्थ की तरह चक्षुइन्द्रिय से भी ज्ञान का कार्यकारण सम्बन्ध पाया जाता है, फिर भी ज्ञान चक्षु को नहीं जानता है । (ज.ध.१/२३०-२३१)

इस ऋजुसूत्र नय की दृष्टि में वाच्य-वाचक भाव भी नहीं होता है। इस प्रकार इस नय की दृष्टि में सकल व्यवहार का उच्छेद होता है । (ज.ध.१/२३२)

शब्द नय

जो नय शब्द अर्थात् व्याकरण से, प्रकृति और प्रत्यय के द्वारा सिद्ध अर्थात् निष्पन्न शब्द को मुख्यकर विषय करता है वह शब्द नय है ।

'शपति' अर्थात् जो पदार्थ को बुलाता है अर्थात् पदार्थ को कहता है या उसका निश्चय कराता है वह शब्दनय है । यह शब्दनय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरूष और उपग्रह के व्यभिचार को दूर करता है। पुल्लिंग के स्थान में स्त्रीलिंग का और स्त्रीलिंग के स्थान में पुल्लिंग का कथन करना आदि लिंग-व्यभिचार है । जैसे -- 'तारका स्वाति:' स्वाति नक्षत्र तारका है । यहाँ पर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुल्लिंग है, अतः स्त्रीलिंग शब्द के स्थान पर पुल्लिंग शब्द का कथन करने से लिंग-व्यभिचार है अर्थात् तारका शब्द स्त्रीलिंग है उसके साथ में पुल्लिंग स्वाति शब्द का प्रयोग किया गया है जो व्याकरण अनुसार ठीक नहीं है। एकवचन आदि के स्थान पर द्विवचना आदि का कथन करना संख्या-व्यभिचार है । जैसे 'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र हैं । यहाँ पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है, इसलिये एकवचन के साथ में द्विवचन का कथन करने से संख्या-व्यभिचार है । भूत आदि काल के स्थान में भविष्यत् आदि काल का कथन करना काल-व्यभिचार है । जैसे -- 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' जिसने समस्त विश्व को देख लिया है ऐसा इसको पुत्र होगा । यहाँ पर 'विश्वदृश्वा' शब्द भूतकालीन है और 'जनिता' यह भविष्यत्कालीन है । अतः भविष्य अर्थ के विषय में

भूतकालीन प्रयोग करना काल-व्यभिचार है। एक कारक के स्थान पर दूसरे के कारक के प्रयोग करने को साधन-व्यभिचार कहते हैं। उतमपुरुष के स्थान पर मध्यपुरुष और मध्यपुरुष के स्थान पर उतमपुरुष आदि के प्रयोग करने को पुरुष-व्यभिचार कहते हैं।

इस प्रकार जितने भी लिङ्ग आदि व्यभिचार हैं वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि अन्य अर्थ का अन्य अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसलिये जैसा लिंग हो, जैसी संख्या हो और जैसा साधन हो उसी के अनुसार शब्दों का कथन करना उचित है। (ज.ध.१/२३५-२३७)

समभिरूढ नयः

आगे सूत्र २०१ में कहेंगे 'परस्परेणाभिरूढाः समाभिरूढाः। शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो नास्ति, यथा शक इन्द्रः पुरंदर इत्याद् यः समभिरूढाः।' परस्पर में अभिरूढ शब्दों को ग्रहण करने वाला नय समभिरूढ नय कहलाता है। इस नय के विषय में शब्द-भेद रहने पर भी अर्थ-भेद नहीं है, जैसे शक, इन्द्र और पुरंदर ये तीनों ही शब्द देवराज के पर्यायवाची होने देवराज में अभिरूढ हैं। किन्तु शोलापुर से प्रकाशित नयचक्र पृ० १८ पर लिखा है— 'शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो भवत्येवेप्ति' अर्थात् शब्द-भेद होने पर अर्थ-भेद होता ही है। जयधवल में भी इस प्रकार कहा है --

शब्दभेद से जो नाना अर्थों में अभिरूढ है अर्थात् जो शब्दभेद से अर्थभेद मानता है वह समभिरूढनय है। जैसे एक ही देवराज इन्दनकिया का कर्ता होने से अर्थात् आज्ञा और ऐश्वर्य आदि से युक्त होने के कारण इन्द्र कहलाता है और वही देवराज शकनात् अर्थात् सामर्थ्यवाला होने के कारण शक कहलाता है तथा वही देवराज पुर अर्थात् नगरों को दारण अर्थात् विभाग करने वाला होने के कारण पुरन्दर कहलाता है। ये तीनों शब्द भिन्न भिन्न अर्थ से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये एक अर्थ के वाचक नहीं हैं। आशय यह है कि अर्थभेद के बिना पदों में भेद बन नहीं सकता है, इसलिये पदभेद से अर्थभेद होना ही चाहिये, इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाला समभिरूढ नय है। (ज.ध.१/२३९)

इस समभिरूढ नय में पर्यायवाची शब्द नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि यह नय प्रत्येक पद का भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। इस नय की दृष्टि में दो शब्द एक अर्थ में रहते हैं ऐसा मानता भी ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न दो शब्दों का एक अर्थ में सद्भाव मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि उन दोनों शब्दों में समान शक्ति पाई जाती है, इसलिये वे एक अर्थ में रहते हैं, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि दो शब्दों में सर्वथा समान शक्ति मानी जाय तो फिर वे दो नहीं रहेंगे, एक हो जायेंगे। इसलिये जब वाचक शब्दों में भेद पाया जाता है तो उनके वाच्यभूत अर्थ में भेद होना ही चाहिये। (ज.ध. १/२४०)

श्री पूज्यवाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में इस प्रकार कहा है --

नाना अर्थों का समभिरोहण करने वाला समभिरूढ नय है। क्योंकि जो नाना अर्थों को 'सम' अर्थात् छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है वह समभिरूढ नय है। जैसे 'गो' इस शब्द के वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं, तथापि वह 'पशु' अर्थ में रूढ़ है। अथवा अर्थ का ज्ञान कराने के लिये शब्दों का प्रयोग किया जाता है। एक अर्थ का ज्ञान एक शब्द के द्वारा हो जाता है, अतः इस नय की दृष्टि में पर्यायवाची शब्दों को प्रयोग निरर्थक है। यदि शब्दों में भेद है तो अर्थभेद अवश्य है। इस प्रकार नाना अर्थों का समभिरोहण करने वाला समभिरूढ नय है। जैसे इन्द्र, शक और पुरन्दर ये तीन शब्द होने से इनके अर्थ भी तीन हैं। इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्यवान् है, शक का अर्थ सामर्थ्यवान् है, पुरन्दर का अर्थ नगर का विभाव करने वाला है। (स.सि.१/३३)

एवंभूत नय

जिस नय में वर्तमान किया की प्रधानता होती है वह एवंभूत नय है।

जिस शब्द का जिस कियारूप अर्थ है तद् रूप किया से परिणत समय में ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समय में नहीं, ऐसा जिस नय का अभिप्राय है वह एवंभूत नय है। इस नय में पदों का समाप्त नहीं होता है, क्योंकि जो स्वरूप और काल की अपेक्षा भिन्न हैं उनको एक मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि पदों में एककालवृत्ति रूप समास पाया जाता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पद कम से ही उत्पन्न होते हैं और वे जिस क्षण में उत्पन्न होते हैं, उसी क्षण में विनष्ट हो जाते हैं, इसलिये अनेक पदों का एक काल में रहना नहीं बन सकता। तथा इस नय में जिस प्रकार पदों का समाप्त नहीं बन सकता है, उसी प्रकार घट आदि वर्णों का भी समास नहीं बन सकता, क्योंकि अनेक पदों के समास मानने में जो कह आये हैं, वे सब दोष अनेक वर्णों के समास मानने में भी प्राप्त होते हैं। इसलिये एवंभूत नय की दृष्टि में एक ही वर्ण एक अर्थ का वाचक है। (ज.ध.१/२४२)

+ उपनयों का कथन -

उपनयाश्च कथ्यन्ते ॥४२॥

अन्वयार्थ : अब उपनयों का कथन करते हैं।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

उपनय के लक्षण कथन करने के लिये सूत्र कहते हैं।

+ उपनय -

नयानां समीपा उपनयाः ॥४३॥

अन्वयार्थ : जो नयों के समीप में रहें वे उपनय हैं।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्यतः :

'आत्मन उपसमीपे प्रमाणदीनां वा तेषामुपसमीपे नयतीत्युपनयः ।' (संस्कृत न.च./४५)
अर्थात् जो आत्मा के या उन प्रमाणादिकों के अत्यन्त निकट पहुंचाता है वह उपनय है ।

यह उपनय भी वस्तु के यथार्थ धर्म का कथन करता है, अयथार्थ धर्म का कथन नहीं करता, इसलिये इसके द्वारा भी वस्तु का यथार्थ बोध होता है ।

उपनय के भेदों का कथन करने के लिये आगे का सूत्र कहा जाता है --

+ उपनय के भेद -

सद्भूतव्यवहारः असद्भूतव्यवहारः उपचरितासद्भूतव्यवहारश्चेत्युपनयास्त्रेधा
॥४४॥

अन्वयार्थ : सद्भूत-व्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरित-असद्भूत-व्यवहार ऐसे उपनय के तीन भेद होते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्यतः :

'भेदोपचारतया वस्तु व्यवहियत इति व्यवहारः ।' द्वन्द्व-समास की अपेक्षा इस सूत्र का अर्थ होता है -- भेद और उपचार के द्वारा जो वस्तु का व्यवहार होता है वह व्यवहार नय है । जो भेद के द्वारा वस्तु का व्यवहार करे वह सद्भूत-व्यवहार-नय है और जो उपचार के द्वारा वस्तु का व्यवहार करे वह असद्भूत-व्यवहार-नय है ।

संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा गुण और गुणी में भेद करने वाली नय सद्भूत-व्यवहार नय है । इसी प्रकार पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभावी में, कारक-कारकी में भी भेद करना सद्भूत-व्यवहार-नय है । जैसे -- उष्ण स्वभाव और अग्नि स्वभावी में भेद करना तथा मृत्पिंड की शक्ति-विशेष कारक में और मृत्पिंड कारकी में भेद करना । ये सब सद्भूत-व्यवहार-नय के दृष्टान्त हैं ।

अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म (स्वभाव) का अन्यत्र समारोप करने वाली असद्भूत-व्यवहार नय है । जैसे पुद्गल आदि में जो धर्म (स्वभाव) है उसका जीवादि में समारोप करना । इसके नौ भेद हैं

1. द्रव्य में द्रव्य का उपचार,
2. पर्याय में पर्याय का उपचार,
3. गुण में गुण का उपचार,
4. द्रव्य में गुण का उपचार,
5. द्रव्य में पर्याय का उपचार,
6. गुण में द्रव्य का उपचार,

7. गुण में पर्याय का उपचार,
8. पर्याय में द्रव्य का उपचार,
9. पर्याय में गुण का उपचार ।

यह नौ प्रकार का उपचार असद्भूत-व्यवहारनय का विषय है । जैसे --

1. पुद्गल में जीव का उपचार अर्थात् पृथ्वी आदि पुद्गल में एकेन्द्रिय जीव का उपचार ।
2. दर्पणरूप पर्याय में अन्य पर्यायरूप प्रतिबिंब का उपचार । किसी के प्रतिबिंब को देखकर जिसका वह प्रतिबिंब है उसको उस प्रतिबिंबरूप बतलाना ।
3. मतिज्ञान मूर्त है -- यहाँ विजाति ज्ञानगुण में विजाति मूर्तगुण का आरोपण है ।
4. जीव-अजीव ज्ञेय अर्थात् ज्ञान के विषयक हैं । यहां जीव-अजीव द्रव्य में ज्ञानगुण का उपचार है ।
5. परमाणु बहुप्रदेशी है अर्थात् परमाणु पुद्गल-द्रव्य में बहुप्रदेशी पर्याय का उपचार है ।
6. श्वेत प्रसाद । यहाँ पर श्वेत गुण में प्रसाद द्रव्य का आरोप किया गया है ।
7. ज्ञानगुण के परिणमन में ज्ञान-पर्याय का ग्रहण, गुण में पर्याय का आरोपण है ।
8. स्कंध को पुद्गल द्रव्य कहना, पर्याय में द्रव्य का उपचार है ।
9. इसका शरीर रूपवान है । यहाँ पर शरीर रूप पर्याय में 'रूपवान' गुण का उपचार किया गया है ।

उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय

मुख्य में अभाव में प्रयोजनवश या निमित्तवश जो उपचार होता है वह उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय है । जैसे मार्जार (बिलाव) को सिंह कहना । यहाँ पर मार्जार और सिंह में सादृश्य सम्बन्ध के कारण मार्जार में सिंह का उपचार किया गया है, क्योंकि सम्बन्ध के बिना उपचार नहीं हो सकता । जैसे चूहे आदि में सिंह का उपचार नहीं किया जा सकता । वह सम्बन्ध अनेक प्रकार का है । जैसे -- अविनाभाव सम्बन्ध, संश्लेष सम्बन्ध, परिणाम-परिणामी सम्बन्ध, श्रद्धा-श्रद्धेय सम्बन्ध, ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध, चारित्र-चर्या सम्बन्ध इत्यादि । ये सब उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय के विषय हैं । 'तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है' यह उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि यहाँ पर श्रद्धा-श्रद्धेय सम्बन्ध पाया जाता है । 'सर्वज्ञ' यह भी उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय का विषय है, ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध पाया जाता है, सर्व जो ज्ञेय उनका ज्ञायक सर्वज्ञ होता है । इत्यादि

+ नयों और उपनयों के भेद -

इदानीमेतेषां भेदा उच्यन्ते ॥४५॥

अन्वयार्थ : अब उनके (नयों और उपनयों के) भेदों को कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

अब उनके (नयों और उपनयों के) भेदों को कहते हैं ।

+ द्रव्यार्थिक-नय के भेद -

द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः ॥४६॥

अन्वयार्थ : द्रव्यार्थिक नय के दश भेद हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

द्रव्यार्थिक नय के दस भेदों का कथन दस सूत्रों द्वारा किया जाता है । उनमें से प्रथम तीन सूत्रों में शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के तीन भेदों का कथन है --

+ कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय -

कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः यथा संसारीजीवः सिद्धसद्वशुद्धात्मा ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ : शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय कर्मोपाधि की अपेक्षा रहित जीव-द्रव्य है, जैसे -- संसारी जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

प्राकृत नयचक्र में कहा भी है --

कम्माणं मज्झगयं जीवं जो गहइ सिद्ध संकासं ।

भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो ॥प्रा.न.च.१८॥

अर्थ – कर्मों के बीच में पड़े हुए जीव को सिद्ध समान ग्रहण करने वाला नय कर्मोपाधि-निरपेक्ष शुद्ध-नय है ।

+ (उत्पाद-व्यय गौण) सत्ताग्राहक शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय -

उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा द्रव्यं नित्यम् ॥४८॥

अन्वयार्थ : उत्पाद-व्यय को गौण करके (अप्रधान करके) सत्ता (द्रव्य) को ग्रहण करने वाली शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है, जैसे -- द्रव्य नित्य है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

उत्पादवयं गौणं किच्चा जो गहइ केवला सत्ता ।

भण्णइ सो सुद्धणओ इह सत्ताग्राहओ समए ॥न.च.१९॥

अर्थ – उत्पाद-व्यय को गौण करके मात्र ध्रुव को ग्रहण करने वाला नय आगम में सत्ताग्राहक शुद्ध नय है ।

+ भेद-कल्पना-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय -

**भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धो द्रव्यार्थिको यथा निजगुणपर्यायस्वभावाद्
द्रव्यमभिन्नम् ॥४९॥**

अन्वयार्थ : शुद्ध द्रव्यार्थिकनय भेद-कल्पना की अपेक्षा से रहित है, जैसे -- निज गुण से, निज पर्याय से और निज स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

यद्यपि संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा गुण और द्रव्य में, पर्याय और द्रव्य में तथा स्वभाव और द्रव्य में भेद है किन्तु प्रदेश की अपेक्षा गुण-द्रव्य में, पर्याय-द्रव्य में, स्वभाव-द्रव्य में भेद नहीं है अर्थात् अनेकान्त रूप से द्रव्य भेद-अभेद-आत्मक है ।

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय भेद नहीं है, मात्र सफेद है । भेद विवक्षा को गौण करके शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा गुण-पर्याय-स्वभाव का द्रव्य से अभेद है, क्योंकि प्रदेश भेद नहीं है ।

गुणगुणियाइचउक्के अत्थे जो णो करेइ खलु भेयं ।
सुद्धो सो दव्वत्थो भेदवियप्पेण णिरवेक्खो ॥न.च.२०॥

अर्थ – गुण, गुणी आदि चार अर्थों (गुण, पर्याय, स्वभाव, द्रव्य) में भेद नहीं करने वाले नय को भेद-विकल्प-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय कहा गया है ।

तीन सूत्रों में अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय के तीन भेदों का कल्प --

+ कर्मोपाधि-सापेक्ष अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय -

कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा ॥५०॥

अन्वयार्थ : कर्मोपाधि की अपेक्षा सहित अशुद्ध जीव-द्रव्य अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है, जैसे -- कर्मजनित क्रोधादिभावरूप आत्मा है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय अशुद्ध द्रव्य है । संसारी जीव अनादि काल से पौद्गलिक कर्मों से बंधा हुआ है इसलिये अशुद्ध है । संसारी जीव में कर्मजनित औदयिक भाव निरन्तर होते रहते हैं । वे औदयिक भाव जीव के स्वतत्त्व है । क्रोधादि कर्मजनित औदयिकभावमयी आत्मा अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है ।

भावेसु राययादी सव्वे जीवमि जो दु जंपेदि ।
सोहु असुद्धो उत्तो कम्माणोवाहिसावेक्खो ॥न.च.२१॥

अर्थ – सब जीवों में रागादि भावों को कहने वाला जो नय है वह कर्मोपाधि-सापेक्ष अशुद्ध नय है ।

+ उत्पादव्यय-सापेक्ष अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय -

**उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथैकस्मिन् समये
द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् ॥५१॥**

अन्वयार्थ : उत्पाद-व्यय की अपेक्षा सहित द्रव्य अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है, जैसे -- एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

शुद्ध द्रव्यार्थिक-नय का विषय मात्र सत्ता है । क्योंकि उत्पाद-व्यय पर्यायार्थिक नय का विषय है । द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी है । इस प्रकार द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है, किन्तु उत्पाद-व्यय पर्यायार्थिक नय का विषय होने के कारण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्क अशुद्ध द्रव्य को अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय कहा है ।

उत्पादवयविमिस्सा सत्ता गहिऊण भणइ तिदयत्तं ।
दव्वस्स एयसमेय जो हु असुद्धो हवे विदिओ ॥न.च.२२॥

अर्थ – उत्पाद-व्यय मिश्रित सत्ता अर्थात् एक समय में इन तीन मयी द्रव्य को ग्रहण करने वाला दूसरा अशुद्ध नय है ।

+ भेदकल्पना-सापेक्ष अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय -

भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथात्मनो दर्शनज्ञानादयोगुणाः ॥५२॥

अन्वयार्थ : भेदकल्पना-सापेक्ष द्रव्य अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है, जैसे -- आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, उसमें ज्ञान-दर्शन आदि गुण नहीं हैं, ऐसा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का प्रयोजन है । कहा भी है-

णवि णाणं ण चरितं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥स.सा.॥

अर्थ – आत्मा में न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है, वह तो ज्ञायक, शुद्ध है ।

आत्मा में ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की कल्पना करना अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है । अर्थात् एक अखण्ड द्रव्य में गुणों का भेद करना अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है ।

भेदे सहि सम्बंधं गुणगुणिर्येईण कुणइ जो दव्वे ।
सो वि अशुद्धो विठ्ठो सहिओ सो भेदकप्पेण ॥न.च.२३॥

अर्थ – गुण-गुणी में भेद होने पर भी जो नय द्रव्य में गुण-गुणी का सम्बन्ध करता है वह भेद-कल्पना सहित अशुद्ध नय जानना चाहिये ।

+ अन्वय-सापेक्ष द्रव्यार्थिकनय -

अन्वयसापेक्षो द्रव्यार्थिको यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम् ॥५३॥

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण गुण पर्याय और स्वभावों में द्रव्य को अन्वयरूप से ग्रहण करने वाला नय अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

प्राकृत नय चक्र में इस नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है --

णिस्सेससहावाणं अण्णयरूवेण दव्ववव्वेदि ।
दव्वठवणो हि जो सो अण्णयदव्वत्थिओ अणिदो ॥प्रा.न.च.२४॥

जो नय सम्पूर्ण स्वभावों को 'यह द्रव्य है, यह द्रव्य है', ऐसे अन्वय रूप से द्रव्य की स्थापना करता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है ।

संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है --

निःशेषगुणपर्यायान् प्रत्येकं द्रव्यमब्रवीत् ।
सोऽन्वयो निश्चर्या हेम यथा सत्कटकादिधु ॥सं.न.च.७॥

यः पर्यायादिकान् द्रव्यं ब्रूते त्वन्वयरूपतः ।
द्रव्यार्थिकः सोऽन्वयाख्यः प्रोच्यते नयवेदिभिः ॥सं.न.च.४॥

अर्थ – जो सम्पूर्ण गुणों और पर्यायों में से प्रत्येक को द्रव्य बतलाता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है । जैसे कड़े आदि पर्यायों में तथा पीतत्त्व आदि गुणों में अन्वय रूप से रहने वाला स्वर्ण । अथवा मनुष्य, देव आदि नाना पर्यायों में यह जीव है, यह जीव है, ऐसा अन्वय द्रव्यार्थिक नय का विषय है ।

आगे सूत्र १८७ में भी इस नय का स्वरूप इसी प्रकार कहा है ।

+ स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय -

स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति ॥५४॥

अन्वयार्थ : स्व-द्रव्य स्व-क्षेत्र स्व-काल स्व-भाव की अपेक्षा द्रव्य को अस्ति रूप से ग्रहण करने वाला नय स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

कल्याण पावर प्रिंटिंग प्रेस शोलापुर से प्रकाशित संस्कृत नयचक्र/३ व ५ पर इस नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा गया है --

परद्रव्यादीनां विवक्षामकृत्वा स्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालस्वभावापेक्षया द्रव्यस्यास्तित्वमस्तीति सवद्रव्यादिचतुष्टयात् ।

अस्तित्वं वस्तुरूपस्य स्वद्रव्यादिचतुष्टयात् ।

एवं यो वक्तव्यभिप्रायं स्वादिमाहकनिश्चयः ॥८॥

अर्थ – पर-द्रव्यादि की विपक्षा न कर, स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा से द्रव्य के अस्तित्व को आस्तिरूप से ग्रहण करने वाला नय स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है । अथवा स्वद्रव्यादि चतुष्टय से वस्तु-स्वरूप का आस्तिस्व बतलाना जिस नय का अभिप्राय है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है ।

आगे सूत्र १८८ में भी इस नय का कथन है ।

+ परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय -

परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति ॥५५॥

अन्वयार्थ : पर-द्रव्य पर-क्षेत्र पर-काल पर-भाव की अपेक्षा द्रव्य नास्ति रूप है ऐसा परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है --

स्वद्रव्यादीनां विवक्षामकृत्वा परद्रव्यपरक्षेत्रपरकालपरभावापेक्षया द्रव्यस्य नास्तित्वकथकः परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकनयः (सं.न.च./३)

नास्तित्वं वस्तुरूपस्य परद्रव्याद्यपेक्षया ।

वांछितार्येषु यो वक्ति परद्रव्याद्यपेक्षकः ॥सं.न.च.५९॥

अर्थ – स्व-द्रव्य आदि की विवक्षा न कर पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल, पर-भाव की अपेक्षा से द्रव्य के नास्तित्व को कथन करने वाला नय परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है । अथवा परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से जो नय विवक्षित पदार्थ में वस्तु के नास्तित्व को बतलाता है वह परद्रव्यादि सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय है । जैसे रजत-द्रव्य रजत-क्षेत्र रजत-काल रजत-पर्याय अर्थात् रजतादि रूप से स्वर्ण नास्ति है ।

आगे सूत्र १८९ में भी इसका कथन है ।

+ परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय -

परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा, अत्रानेक स्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः ॥५६॥

अन्वयार्थ : ज्ञान-स्वरूप आत्मा ऐसा कहना परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है, क्योंकि इसमें जीव के अनेक स्वभावों में से ज्ञान नामक परमभाव का ही ग्रहण किया गया है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा गया है --

संसारमुक्तपर्यायाणामाधारं भूत्वाप्यात्मद्रव्यकर्मबंधमोक्षाणां कारणं न भवतीति परमभावग्राहकद्रव्यार्थिकनयः । (सं.न.च.३)

कर्मभिर्जनितो नैव नोत्पन्नस्तत्क्षयेन च ।

नयः परमभावस्य ग्राहको निश्चयो भवेन् ॥ सं.न.च.१० ॥

अर्थ – यद्यपि आत्म-द्रव्य संसार और मुक्त पर्यायों का आधार है तथापि आत्म-द्रव्य कर्मों के बंध और मोक्ष का कारण नहीं होता है । यह परमभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है । अथवा, आत्मा कर्म से उत्पन्न नहीं होता और न कर्मक्षय से उत्पन्न होता है -- द्रव्य के ऐसे भाव को बतलाने वाला परमभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है ।

प्राकृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा है --

गेह्लइ दव्वसहावं असुद्धसुद्धोवयारपरिचत्तं ।

सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥न.च.वृ.१९९॥

अर्थ – जो (औदयिकादि) अशुद्ध / शुद्ध (क्षायिक) स्वभावों के उपचार से रहित ग्रहण करता है उसे मोक्षाभिलाषी को परमभावगाही नय जानना चाहिए ।

+ पर्यायार्थिक नय के छः भेद -

अथ पर्यायार्थिकस्य षड्भेदाः ॥५७॥

अन्वयार्थ : अब पर्यायार्थिक नय के छः भेदों का कथन करते हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

पर्यायार्थिक नय के छः भेदों का कथन

+ अनादि-नित्य पर्यायार्थिकनय -

अनादिनित्यपर्यायार्थिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेर्वादिति ॥५८॥

अन्वयार्थ : अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय जैसे मेरू आदि पुद्गल की पर्याय नित्य है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

मेरू, कुलाचल पर्वत, अकृत्रिम जिनबिंब, जिनालाय आदि ये सब पुद्गल की पर्यायें अनादिकाल से हैं, अनन्तकाल तक रहेंगी, इनका कभी विनाश नहीं होगा अतः ये अनादि-नित्य-पर्यायार्थिक नय के विषय हैं । क्योंकि सभी पर्यायें विनाश को प्राप्त हों ऐसा एकान्त नहीं है। कहा भी है --

होदु वियंनणपज्जाओ, ण च वियंजणपज्जायस्स सव्वस्स विणासेण होदव्वमिदि णियमो अत्थि, एयंतवाद्प्पसंगादो । ण च ण विणस्सदि त्ति दव्वं होदि, उप्पाय-ठ्ठिदि-भंगसंगयस्स दव्वभाव-व्भुवगमादो । (ध.७/१७८)

अर्थ - 'अभव्यत्व' जीव की व्यंजन-पर्याय भले ही हो, किन्तु सभी व्यंजन-पर्याय का नाश अवश्य होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से एकान्तवाद का प्रसंग आ जायगा । ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य ही होना चाहिये, क्योंकि जिसमें उत्पाद-ध्रौव्य और व्यय पाये जाते हैं उसे द्रव्यरूप से स्वीकार किया गया है ।

प्राकृत नयचक्र में भी कहा है --

अक्कट्टिमा अणिहणा ससिसूराईण पज्जया गिह्णइ ।

जो सो अणाइणिच्चो जिणभणिओ पज्जयत्थिणओ ॥प्रा.न.च.२७॥

अर्थ - जो नय चन्द्रमा, सूर्य आदि अकृत्रिम, अविनाशी पुद्गलपर्यायों को ग्रहण करता है वह अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।

पर्यायार्थी भवेन्नित्याऽनादिनित्यार्थगोचरः ।

चन्द्रार्कमेरूभूशैल-लोकादेः प्रतिपादकः ॥१॥

भरतादिक्षेत्राणि हिमवदादिपर्वताः पद्मादिसरोवराणि सुदर्शना-दिमेरूनगाः
लवणकालोदकादिसमुद्राः एतानि मध्यस्थितानि कृत्वा परिणताऽसंख्यातद्वीपसमुद्राः
अभ्रपटलानि भवनवासिवानव्यंतर-विमानानि चन्द्रार्कमंडला ज्योतिर्विमानानि
सौधर्मकल्पादिस्वर्गपटलानि यथायोग्यस्थाने परिणताऽकृत्रिमचैत्यचैत्यालयाः
मोक्षशिलाश्च बृहद् वातवल्याश्च इत्येवमाद्यनेकाश्चर्यरूपेण
परिणतपुद्गलपर्यायाद्यनेक-द्रव्यपर्यायैः सह परिणतलोकमहास्कंधपर्यायाः त्रिकालस्थिताः
संतो-ऽनाद्यनिघना इति अनादि-नित्य-पर्यायार्थिक नयः ।

अर्थ – भरत आदि क्षेत्र, हिमवत् आदि पर्वत, पद्मादि सरोवर, सुदर्शन आदि मेरू पर्वत, लवण, कालोदधि आदि समुद्रों को मध्य में स्थित करके असंख्यात द्वीप-समुद्र स्थित हैं; नरक के पटल, भवनवासियों के विमान, व्यंतरों के विमान, चन्द्र, सूर्य आदि मंडल ज्योतिषियों के विमान और सौधर्म-कल्पादि स्वर्गों के पटल: यथायोग्य स्थानों में परिणत अकृत्रिम चैत्य चैत्यालय; मोक्ष-शिला और बृहद् वातवलय आदि अनेक आश्चर्य से युक्त परिणत पुद्गलों की अनेक द्रव्य-पर्याय सहित परिणत लोक-महास्कंध आदि पर्यायें त्रिकाल-स्थित हैं इसलिये अनादि-अनिघन है । इस प्रकार के विषय को ग्रहण करने वाला अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय है ।

+ सादि नित्यपर्यायार्थिकनय -

सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायो नित्यः ॥५९॥

अन्वयार्थ : सादि नित्यपर्यायार्थिक नय, जैसे -- सिद्धपर्याय नित्य है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

पर्यायार्थिक नय के प्रथम भेद का विषय अनादिनित्य पर्याय है और इस दूसरे भेद का विभव आदि-नित्य पर्याय है । सिद्ध-पर्याय ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के क्षय से उत्पन्न होती है, अतः सादि है किन्तु इस पर्याय का कभी नाश नहीं होगा इसलिये नित्य है । इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला क्षायिक-ज्ञान, दर्शनावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला क्षायिक-दर्शन, मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले क्षायिक सम्यग्दर्शन, चारित्र तथा अनन्त सुख, अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये सब क्षायिक-भाव भी सादि-नित्य पर्याय हैं । कहा भी है --

जीवा एव क्षायिकभावेन साद्यनिघनाः । (पं.का.५३.टी.)

अर्थ – क्षायिक भावों की अपेक्षा जीव भी सादि-अनिघन है ।

इसी बात को प्राकृत नयचक्र में भी कहा गया है --

कम्मखयादुप्पण्णो अविणामी जो हु कारणाभावे ।
इद् मेवमुक्षरंतो भण्णइ सो साइणिच्च णओ ॥प्रा.न.च.२०१॥

अर्थ – कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले भाव अविनाशी हैं, क्योंकि कर्मोदयरूप बाधक-कारण का अभाव है । इन क्षायिक भावों को विषय करने वाला सादि-नित्य पर्यायार्थिकनय है ।

पर्यायार्थी भवेत्सादि व्यये सर्वस्य कर्मणः ।
उत्पन्नसिद्धपर्यायग्राहको नित्यरूपकः ॥२/९॥
आदत्ते पर्यायं नित्यं सार्दि च कर्मणोऽभावात् ।
स सादि नित्यपर्यायार्थिकनामा नयः स्मृतः ॥८/४१॥

शुद्धनिश्चयनयविवक्षामकृत्वा सकलकर्मक्षयोद् भूत
चरमशरीराकारपर्यायपरिणतिरूपशुद्धसिद्धपर्यायः सादिनित्यपर्यायार्थिक नयः ॥२/७॥

अर्थ – शुद्ध-निश्चयनय की विवक्षा न करके, सम्पूर्ण कर्मों के निरवशेषतया क्षय के द्वारा उत्पन्न हुई चरम-शरीर के आकार वाली परिणतिरूप शुद्ध सिद्ध-पर्याय को जो नय ग्रहण करता है, वह सादि-नित्य पर्यायार्थिकनय है ।

+ अनित्यशुद्ध पर्यायार्थिकनय -

**सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिको यथा समयं
समयं प्रति पर्याया विनाशिनः ॥६०॥**

अन्वयार्थ : ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करने वाला नय अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नय है जैसे -- प्रति समय पर्याय विनाश होती है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

यहाँ पर 'सत्ता' का अभिप्राय ध्रौव्य से है और गौण का अर्थ अप्रधान है । प्राकृत नयचक्र में इस का स्वरूप इस प्रकार कहा है --

सत्ता अमुक्खरूवे उप्पादवयं हि गिहंणए जो हु ।
सो हु सहावअणिच्चोगाही खलु सुद्धपज्जाओ ॥प्रा.न.च.२०२॥

ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करने वाला नय अनित्यशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है ।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है --

सत्तागौणत्वाद्यो व्ययमुत्पादं च शुद्धमाचष्टे ।
सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययवाचक्रः स नयः ॥सं.न.च.९/४२॥

सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावानित्यशुद्धपर्यायाधिकः । (१७)

अर्थ – ध्रौव्य को गौण करके शुद्ध उत्पाद-व्यय को जो नय ग्रहण करता है वह अनित्य शुद्ध-पर्यायार्थिक नय है ।

+ नित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक-नय -

**सत्तासापेक्षस्वभावो नित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा एकस्मिन् समये त्रयात्मकः
पर्यायः ॥६१॥**

अन्वयार्थ : ध्रौव्य की अपेक्षा सहित ग्रहण करने वाला नय अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है । जैसे -- एक समय में पर्याय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

त्रयात्मक शब्द का अभिप्राय यह है कि पूर्व पर्याय का विनाश, उत्तर पर्याय का उत्पाद और द्रव्यपने से ध्रौव्य । इस नय का विषय ध्रौव्य भी होने से इस नय को अशुद्ध पर्यायार्थिक कहा गया है, क्योंकि शुद्ध पर्यायार्थिक नय का विषय ध्रौव्य नहीं होता ।

प्राकृत नयचक्र में भी इस नय का अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहा गया है, गाथा निम्न प्रकार है --

जो गहइ एक्कसमये उप्पादव्ययघुवत्तसंजुत्त ।
सो सब्भावअणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थिणओ ॥प्रा.न.च.२०३॥

अर्थ – उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों एक समय में होते हैं । उन उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त सत्ता को जो नय ग्रहण करता है वह अनित्य अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है ।

ध्रौव्योत्पादव्ययग्राही कालेनैकेन यो नयः ।
स्वभावानित्यपर्यायग्राहकोऽशुद्ध उच्यते ॥सं.न.च.४२॥

अर्थ – एक ही काल में ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय को जो नय ग्रहण करता है वह अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय कहा गया है ।

+ नित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक-नय -

**कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावो नित्यशुद्धपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायासदृशाः
शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः ॥६२॥**

अन्वयार्थ : कर्मोपाधि (औदयिक-भाव) से निरपेक्ष ग्रहण करने वाला नय नित्य-शुद्ध-पर्यायार्थिक नय है । जैसे -- संसारी जीवों की पर्याय सिद्ध समान शुद्ध है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है --

विभावनित्यशुद्धोऽयं पर्यायार्थी भवेवलं ।
संसारिजीवनिकायेषु सिद्धसादृश्यपर्ययः ॥सं.न.च.५/१०॥

पर्यायानंगिनां शुद्धात् सिद्धानाभिव यो वदेत् ।
स्वभावनित्यशुद्धोऽसौ पर्यायग्राहको नयः ॥सं.न.च.११/४२॥

चराचरपर्यायपरिणत समस्तसंसारीजीवनिकायेषु शुद्धसिद्धपर्याय-विवक्षाभावेन कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नयः ॥५॥

अर्थ – चराचर पर्याय परिणत संसारी जीवधारियों के समूह में शुद्ध सिद्ध-पर्याय की विवक्षा से कर्मोपाधि से निरपेक्ष स्वभाव नित्य-शुद्ध-पर्यायार्थिक नय है । यहाँ पर संसाररूप विभाव में यह नय नित्य-शुद्ध-पर्याय को जानने की विवक्षा रखता है।

प्राकृत नयचक्र में इस नय को अनित्य-शुद्ध-पर्यायार्थिक नय कहा है-

देहीणं पज्जाया सुद्धा सिद्धाण भणइ सारित्था ।
जो सो अणिच्चसुद्धो पज्जयणही इवे सो णओ ॥२०४॥

अर्थ – संसारी जीवों की पर्यायों को जो नय सिद्ध-समान शुद्ध कहता है वह अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नय है ।

+ अनित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिकनय -

कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा संसारिणामुत्पत्तिमरणे स्तः ॥६३॥

अन्वयार्थ : अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय का विषय कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव है, जैसे -- संसारी जीवों का जन्म तथा मरण होता है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

संस्कृत नयचक्र में इस नय का लक्षण निम्न प्रकार कहा है --

अशुद्धनित्यपर्यायान् कर्मजान् विवृणोति यः ।
विभावानित्यपर्यायग्राहकोऽशुद्धसंज्ञकः ॥सं.न.च.१२/४२॥

शुद्धपर्यायविवक्षाऽभावेन कर्मोपाधिसंजनितनारकादिविभावपर्यायाः जीवस्वरूपमिति कर्मोपाधिसापेक्ष-विभावानित्याशुद्धपर्यायार्थिक नयः ॥ (१८)

अर्थ – शुद्ध-पर्याय की विवक्षा न कर, कर्म-जनित नारकादि विभाव पर्यायों को जीवस्वरूप बतलाने वाला नय अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है ।

प्राकृत नयचक्र में भी कहा है --

भणह नणिच्चाशुद्धा चच्चद्वीवाण पव्वबा जो हु ।
होइ विभावअणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थिणओ ॥२०५/७५॥

अर्थ – जो नय संसारी जीवों की चतुर्गति सम्बन्धी अनित्य तथा अशुद्ध पर्यायों को ग्रहण करता है, वह विभाव-अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है ।

॥ इस प्रकार पर्यायार्थिक नय के छह भेदों का निरूपण हुआ ॥

+ नैगमनय के प्रकार -

नैगमस्तेधा भूतभाविवर्तमानकालभेदात् ॥६४॥

अन्वयार्थ : भूत भावि वर्तमानकाल के भेद से नैगमनय तीन प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

नैगम नय का स्वरूप सूत्र ४१ की टीका में कहा गया है और आगे सूत्र १९६ में कहेंगे । नैगमनय के तीन भेदों का स्वरूप ग्रंथकार कहते हैं । कुछ आचार्य नैगमनय छह प्रकार की कहते हैं । जैसे -- १. अतीत को वर्तमान, २. वर्तमान को अतीत, ३. अनागत को वर्तमान, ४. वर्तमान को अनागत, ५. अनागत को अतीत, ६. अतीत को अनागत कहना ।

+ भूत नैगम-नय -

**अतीते वर्तमानारोपणं यत्र, स भूतनैगमो यथा अद्य दीपोत्सवदिने
श्रीवर्द्धमानस्वामी मोक्षं गतः ॥६५॥**

अन्वयार्थ : जहां पर अतीतकाल में वर्तमान को संस्थापन किया जाता है, वह भूत नैगम नय है। जैसे -- आज दीपावली के दिन श्री महावीर स्वामी मोक्ष गये हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

जो नय भूतकाल सम्बन्धी पर्याय को वर्तमान काल में आरोपण करके, संस्थापन करके कहता है उसको भूत नैगम नय कहते हैं ।

प्राकृत नयचक्र में भी इसी प्रकार कहा गया है --

णिव्वित्तदव्वकिरण वट्टणकाले दु जं समाचरणं ।
तं भूयणइगमणयं जह अट्ठ णिव्वुइदिणं वीरे ॥३३/८॥

अर्थ – जो क्रिया हो चुकी उसको वर्तमान काल में समाचरण करना वह भूत नैगम नय है जैसे आज महावीर भगवान का निर्वाण दिवस है ।

अतीतं सांप्रतं कृत्वा निर्वाणं त्वद्य योगिनः ।
एवं वदत्यभिप्रायो नैगमातीतवाचक्रः ॥१॥ (सं.न.च.१२)

अर्थ – जो अतीत योगियों के निर्वाण की वर्तमान में बललाता है वह भूत नैगम नय का विषय है ।

तीर्थकरपरमदेवादिपरमयोगीन्द्राः अतीतकाले सकलकर्मक्षयं कृत्वा निर्वाणपदं प्राप्ताः संतोपि इदानीं सकलकर्मक्षयं कृतवन्त इति निर्वाणपूजाभिषेकार्चनाक्रियाविशेषान् कुर्वन्तः कारयन्त इति अथवा व्रतगुरू-श्रुतगुरू-जन्मगुरू-प्रभृति सत्पुरूषा अतीतकाले समाधिविधिना भूत्यन्तरप्राप्ता अति ते इदानीं अतिक्रान्ताः भवन्ति इति तद्दिने तेषां गुणानुरागेण दानपूजाभिषेकार्चनानि सांप्रतं कुर्वन्त इत्याद्यतीत विषयान् वर्तमानवत् कथनं अतीतनेगभनयो भवति । (सं.न/च//१०)

अर्थ – यद्यपि तीर्थकर परमदेव आदि योगीन्द्र अतीतकाल में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त करे चुके हैं, फिर भी वर्तमान में वे सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने वाले हैं, इस प्रकार निर्वाण की पूजा, अभिषेक और अर्चना विशेष क्रियाओं को वर्तमान में करते और कराते हैं । अथवा व्रतगुरू, दीक्षा-गुरू, शिक्षागुरू, जन्मगुरू आदि सत्पुरूष समाधि विधि से दूसरी गति को प्राप्त हो चुके हैं, फिर भी वे आज समाधि से युक्त हुए हैं, इस प्रकार से उस उस दिन के गुणानुराग से दान, पूजा, अभिषेक और अर्चा को वर्तमान काल में करते हैं । इस प्रकार अतीत विषयों को वर्तमान के समान कथन करना भूत-नैगम नय है ।

+ भावि नैगम-नय -

भाविनि भूतवत् कथनं यत्र स भाविनैगमो यथा अर्हन् सिद्ध एव ॥६६॥

अन्वयार्थ : जहां भविष्यत् पर्याय में भूतकाल के समान कथन किया जाता है वह भाविनैगम नय है । जैसे -- अरहन्त सिद्ध ही हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जो नय आगामी काल में होने वाली पर्याय को अतीतकाल में कथन करता है वह भावि नैगमनय है । जैसे -- श्री अरहन्त भगवान अभी सिद्ध-भगवान नहीं है, आगामी काल में



होवेंगे, उन अरहंत भगवान को जो नय सिद्ध रूप से कथन करती है, वह भाविनैगम नय है । प्राकृत नयचक्र में कहा है --

णिप्पणमिव पयंपदि भाविपयत्थं णरो अणिप्पणं ।
अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भावि णइगमोत्ति णओ ॥३५/८॥

अर्थ – जो नय अनिष्पन्न, भावि पदार्थ को निष्पन्नवत् कहता है, जैसे अप्रस्थ को प्रस्थ कहता है वह भावि नैगमनय है ।

संस्कृत नयचक्र में भी इस प्रकार कहा है --

चित्तस्थं यदनिर्वृत्तप्रस्थके प्रस्थकं यथा ।
भाविनो भूतवद् वृते नैगमोऽनागतो मतः ॥सं.न.च.३/१२॥

अर्थ –- अपूर्ण (अनिष्पन्न) प्रस्थ में प्रस्थ की संकल्पना करना अर्थात् भावि को भूतवत् बतलाना भावि नैगमनय है ।

भाविकाले परिणमिष्यतोऽनिष्पन्नक्रियाविशेषान् वर्तमानकाले निष्पन्ना इति कथनं ।
(सं.न.च.१२)

जो पर्याय अभी अनिष्पन्न है, भाविकाल में निष्पन्न होगी उसको वर्तमान में निष्पन्न कहना भावि नैगम नय है । जैसे --

विवक्षाकालैऽतीर्थकरणं रावणलक्ष्मीधरश्रेणिकादीन् तीर्थकर-परमदेवा इति अधिराज्यपदव्यभावेऽपि नृपकुमाराधिराज इति कथनं, प्रस्थप्रायोग्यवस्तुविशेषः प्रस्थमित्यादिदृष्टान्तान् भाविकाले निष्पन्नान् भविष्यन्तोऽवतिष्ठमानान् विषयान् निष्पन्ना इति कथनं भावि नैगमनयः । (/११)

अर्थ – विवक्षाकाल में जो तीर्थकर नहीं है उन भावी रावण, लक्ष्मण श्रेणिक आदि को परमतीर्थकर देव कहना, राज्यपद को अप्राप्त राजकुमार को राजा कहना, प्रस्थ-योग्य वस्तु-विशेष को प्रस्थ कहना इत्यादिक दृष्टान्तों को, भाविकाल में पूर्ण होने वाले भाविरूप में रहने वाले विषयों को पूर्ण हो गये इस प्रकार से कथन करना भावि नैगमनय है ।

+ वर्तमान नैगम-नय -

**कर्तुमारब्धमीषन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत्कथ्यते यत्र स
वर्तमाननैगमो यथा ओदनः पच्यते ॥६७॥**

अन्वयार्थ : करने के लिए प्रारम्भ की गई ऐसी ईषत्-निष्पन्न (थोड़ी बनी हुई) अथवा अनिष्पन्न (बिल्कुल नहीं बनी हुई) वस्तु को निष्पन्नवत् कहना वह वर्तमान नैगम नय है । जैसे

-- भात पकाया जाता है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

प्रारम्भ किये गये किसी कार्य को, उस कार्य के पूर्ण नहीं होने पर भी पूर्ण हुआ कह देना वर्तमान नैगम नय है । जैसे -- कोई पुरुष भात बनाने की सामग्री एकट्ठी कर रहा था किन्तु उसका यह कहना कि 'भात बना रहा हूँ', वर्तमान नैगम नय का विषय है । प्राकृत नय चक्र में भी कहा है -

पारद्धा जा किरिया पयणविद्याणादि कहइ जो सिद्धा ।
लोए व पुच्छमाणे तं भण्णइ वट्टमाणणयं ॥प्रा.न.च.३४/८॥

अर्थ – चावल पकाने की क्रिया प्रारम्भ करते समय पूछे जाने पर यह कहना कि 'भात बना रहा हूँ' वर्तमान नैगम नय है ।

संस्कृत नय चक्र में भी कहा है --

अनिष्पन्नं क्रियारूपं निष्पन्नं गदति स्फुटं ।
नैगमो वर्तमानः स्यादोदनं पच्यते यथा ॥सं.न.च.२/११॥

अर्थ – अपूर्ण कियारूप को जो निष्पन्न-पूर्ण बतलाता है वह वर्तमान नैगममय है । जैसे -- भात पकाया जाता है ।

वसतिं करोति , ओदनं पक्वान्नं पचामि, वाहं करोमीत्याद्यनिष्पन्नक्रियविशेषानु- द्विश्य निष्पन्ना इति वदनं वर्तमाननैगमनयः । (/१०)

अर्थ – मैं वसतिका बताता हूँ, भात को, पक्वान्न को पकाता हूँ, इत्यादि अपूर्ण क्रिया विशेषों को लक्ष्य करके 'पक गये' ऐसा कहना वर्तमान नैगम नय है ।

॥ इस प्रकार नैगम नय के तीनों भेदों का निरूपण हुआ ॥

+ संग्रह-नय के प्रकार -

संग्रहो द्वेधाः ॥६८॥

अन्वयार्थ : संग्रह नय दो प्रकार का है १. सामान्य संग्रह २. विशेष संग्रह । अथवा, शुद्ध संग्रह, अशुद्ध संग्रह के भेद से दो प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सामान्य संग्रह को शुद्ध संग्रह और विशेष संग्रह को अशुद्ध संग्रह समझना चाहिये ।

+ सामान्य संग्रहनय -

सामान्यसंग्रहो यथा सर्वाणि द्रव्याणि परस्परमविरोधीनि ॥६९॥

अन्वयार्थ : सामान्य संग्रह नय, जैसे -- सर्व द्रव्य परस्पर अविरोधी हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सर्व द्रव्य सामान्य से सत् रूप हैं, क्योंकि 'सत्' द्रव्य का लक्षण है । इसीलिए सर्व द्रव्य परस्पर में अविरोधी हैं । 'सत्' कहने से जीव अजीव सभी द्रव्यों का ग्रहण हो जाता है अतः यह सामान्य संग्रह नय का विषय है । प्राकृत नयचक्र में कहा भी है --

अवरे परमविरोहे सव्वं अस्थिति सुद्धसंगहणो ॥ (प्रा.न.च./८)

अर्थ – सर्व द्रव्यों में परस्पर अविरोध है क्योंकि सत् रूप हैं - यह शुद्ध-संग्रह अथवा सामान्य-संग्रह नय है ।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है --

परस्परविरोधेन समस्तपदार्थसंग्रहैकवचनप्रयोगचातुर्येण कथ्यमानं सर्व सदित्येतत्
सेनावननगरमित्येतत् प्रभृत्यनेकजाति निचयमेकवचनेन स्वीकृत्य
कथनंसामान्यसंग्रहनयः । (सं.न.च./१३)

अर्थ – परस्पर अविरोध रूप से सम्पूर्ण पदार्थों के संग्रहरूप एकवचन के प्रयोग के चातुर्य से कहा जाने वाला सब सत् स्वरूप है । इस प्रकार से सेना-समूह, वन, नगर आदि अनेक जाति के समूह को एकवचन रूप से स्वीकार करके कथन करना सामान्य संग्रह नय है ।

+ विशेष संग्रहनय -

विशेषसंग्रहो यथा सर्वे जीवाः परस्परमविरोधिनिः ॥७०॥

अन्वयार्थ : विशेष-संग्रहनय, जैसे -- सर्व जीव परस्पर में अविरोधी हैं, एक है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

जो नय एक जाति विशेष की अपेक्षा से अनेक पदार्थों को एकरूप ग्रहण करता है वह विशेष संग्रह नय है । जैसे-चैतन्यपने की अपेक्षा से सम्पूर्ण जीवराशि एक है । जीव के कहने से सामान्यतया सब जीवों का तो ग्रहण हो जाता है परन्तु अजीव का ग्रहण नहीं होता है, अतः यह विशेष संग्रह नय है । प्राकृत नयचक्र में भी कहा है --

होइ तमेव अशुद्धं इगिजाइविसेसगहणेण । (प्रा.न.च/७६)

अर्थ – एक जातिविशेष ग्रहण करने से वह अशुद्ध (विशेष) संग्रह नय है ।

संस्कृत नयचक्र में भी इसी प्रकार कहा है -

जीवनिचयाजीवनिचयहस्तिनिचयतुरंगनिचयरयनिचयपदातिनिचय इति
निंबुजंवीरजंबूमाकंदनालिकेरनिचय इति द्विजवर वणिग्वर तलवराद्यष्टादशश्रेणीनिचय
इत्यादि दृष्टांतैः प्रत्येकजाति-निचयमेकवचनेन स्वीकृत्य कथनं विशेषसंग्रहनयः ।
(सं.नच./१३)

अर्थ – जीव समूह, अजीव समूह, हाथियों का झुण्ड, घोड़ों का झुण्ड, रथों का समूह, पैदल चलने वाले सैनिकों का समूह, निंबु, जामुन, आम व नारियल का समूह; इसी प्रकार द्विजवर, वणिविश्रेष्ठ, कोटपाल आदि अठारह श्रेणी के निश्चय इत्यादिक दृष्टांतों के द्वारा प्रत्येक जाति के समूह को नियम के एकवचन द्वारा स्वीकार करके कथन करना विशेष संग्रह नय है ।

॥ इस प्रकार संग्रह नय के दोनों भेदों का कथन हुआ ॥

+ व्यवहारनय के प्रकार -

व्यवहारोऽपि द्वेधा ॥७१॥

अन्वयार्थ : व्यवहारनय भी दो प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

संस्कृत नयचक्र में कहा भी है --

यः संग्रहग्रहीतार्थे शुद्धाशुद्धे विभेदकः ।

शुद्धाशुद्धाभिधानेन व्यवहारो द्विधा मतः ॥सं.न.च.१७/४२॥

अर्थ – शुद्ध (सामान्य) संग्रह नय द्वारा ग्रहीत अर्थ की भेदक तथा अशुद्ध (विशेष) संग्रह नय द्वारा ग्रहीत अर्थ की भेदक व्यवहार नय भी शुद्ध, अशुद्ध (सामान्य / विशेष) के भेद से दो प्रकार का है ।

सामान्य व्यवहार नय का स्वरूप --

+ सामान्य-संग्रहभेदक व्यवहार-नय -

सामान्यसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा द्रव्याणि जीवाजीवाः ॥७१/२॥

अन्वयार्थ : सामान्य संग्रह-नय के विषयभूत पदार्थ में भेद करने वाला सामान्य संग्रहभेदक व्यवहारनय है । जैसे -- द्रव्य के दो भेद हैं, जीव और अजीव ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा है --

सामान्यसंग्रहस्यार्थे जीवाजीवादि भेदतः ।

भिनत्ति व्यवहारोयं शुद्धसंग्रहभेदकः ॥सं.न.च.१/१५॥

‘अनेन सामान्यसंग्रहनयेन स्वीकृतसत्ता सामान्यरूपार्थं भित्वा जीवपुद्गलादिकथनं, सेनाशब्दने स्वीकृतार्थं भित्वा हस्त्य अरथपदाति-कथनं, नगरशब्देन स्वीकृतार्थं भित्वा अयस्कार सुवर्णकारकांस्यकारौष-धिकारशाव्यकारजालकारवैद्यकारादि कथनं, वनशब्देन स्वीकृतार्थं भित्वा पनसाम्रनालिकेरपूगद्रुमादि कथनमिति सामान्यसंग्रहभेदक-व्यवहारनयो भवति । (१४)

अर्थ – जो सामान्य संग्रह के द्वारा कहे गये अर्थ को जीव-अजीव आदि के भेद से विभाजन करता है वह शुद्ध संग्रह का भेदक व्यवहारनय है । इस तरह सामान्य संग्रहनय के द्वारा स्वीकृत सत्ता-सामान्य अर्थ को भेदकर जीव, पुद्गल कहना; सेना शब्द के द्वारा स्वीकृत अर्थ को भेदकर हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादे आदि को कहना; नगर शब्द के द्वारा स्वीकृत पदार्थ का भेद कर लुहार, सुनार, कंसार, औषधिकार, मारक, जलकार, वैद्य आदि कहना; वन शब्द के द्वारा स्वीकार किये गये अर्थ को भेदकर पनम आम, नारियल, सुपारी आदि वृक्षों को कहना सामान्य संग्रह का भेदक व्यवहारनय है ।

+ विशेष-संग्रहभेदक व्यवहारनय -

विशेषसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च ॥७२॥

अन्वयार्थ : विशेष संग्रह-नय के विषयभूत पदार्थ को भेदरूप से ग्रहण करने वाला विशेष-संग्रहभेदक व्यवहार नय है, जैसे -- जीव के संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद करना ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा है --

सामान्यसंग्रहस्यार्थे जीवाजीवादि भेदतः ।

भिनत्ति व्यवहारोयं शुद्धसंग्रहभेदकः ॥सं.न.च.१/१५॥

‘अनेन सामान्यसंग्रहनयेन स्वीकृतसत्ता सामान्यरूपार्थं भित्वा जीवपुद्गलादिकथनं, सेनाशब्दने स्वीकृतार्थं भित्वा हस्त्य अरथपदाति-कथनं, नगरशब्देन स्वीकृतार्थं भित्वा

अयस्कार सुवर्णकारकांस्यकारौष-धिकारशाव्यकारजालकारवैद्यकारादि कथनं, वनशब्देन स्वीकृतार्थं भित्वा पनसाम्रनालिकेरपूगद्रुमादि कथनमिति सामान्यसंग्रहभेदक-व्यवहारनयो भवति । (/१४)

अर्थ – जो सामान्य संग्रह के द्वारा कहे गये अर्थ को जीव-अजीव आदि के भेद से विभाजन करता है वह शुद्ध संग्रह का भेदक व्यवहारनय है । इस तरह सामान्य संग्रहनय के द्वारा स्वीकृत सत्ता-सामान्य अर्थ को भेदकर जीव, पुद्गल कहना; सेना शब्द के द्वारा स्वीकृत अर्थ को भेदकर हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादे आदि को कहना; नगर शब्द के द्वारा स्वीकृत पदार्थ का भेद कर लुहार, सुनार, कंसार, औषधिकार, मारक, जलकार, वैद्य आदि कहना; वन शब्द के द्वारा स्वीकार किये गये अर्थ को भेदकर पनम आम, नारियल, सुपारी आदि वृक्षों को कहना सामान्य संग्रह का भेदक व्यवहारनय है । संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप इस प्रकार कहा है --

विशेषसंग्रहस्यार्थे जीवादौ रूपभेदतः ।

भिनत्ति व्यवहारस्त्वशुद्धसंग्रह भेदकः ॥सं.न.च.२/१५॥

विशेषसंग्रहनयेन स्वीकृतार्थान् जीवपुद्गलनिचयान् भित्वा देव-नारकादिकथनं घटपटादिकथनं, इस्त्यश्वरथपदातीन् भित्वा भद्रगज-जात्यश्व-महारथ-शतभट-सहस्रभटादिकथनं, निंबजंबुजंबीरनारंग-नालिकेरसहकारपादपनिचयं भित्वा सरसविरसता मधुराम्रादिरस' विशेषतां परिमलतां हरितपाण्डुरादिवर्णविशेषतां ह्रस्वदीर्घतां सफल-निःफलतामित्यादि कथनं, तलवाशष्ठादशश्रेणीनिचयं भित्वा वलावलतां सस्वनिस्वतां कुशलाकुशलतां योग्यायोग्यतां कुब्जदीर्घतां कुरूपसुरूपतां स्त्रीपुं नपुं सकभेदविशेषतां कर्मविभागतां सदासदाचरणतां च कथनमित्याद्यनेकविषयान् भित्वा कथनं विशेषसंग्रहभेद-कव्यवहारनयो भवति ।

अर्थ – जो विशेष संग्रहक नय के विषयभूत जीवादि पदार्थ को रूपभेद से (स्वरूपभेद से) विभाजित करता है वह अशुद्ध संग्रह (विशेषसंग्रह) भेदक व्यवहार नय है । विशेष संग्रहनय के द्वारा स्वीकृत पदार्थों को जीव-पुद्गलों के समूह को भेद करके देव-नारकादिक और घट-वस्त्रादिक का कथन करना; हस्ति, घोड़े, रथ, प्यादों को भेदरूप से विकल्प करके भद्र हाथी, सुन्दर घोड़ा, महारथ, शतभट, सहस्रभट आदि रूप से कहना; निंबु, जामुन, जंबीर, नारंगी, नारियल और आम के समूह को भेद करके सरस, विरसता को, मधुर आम के रस की विशेषता को, सुगन्धता को, हरित-श्वेत-पीतादिक वर्ण-विशेषता को, ह्रस्व-दीर्घता को, सफलता-निष्फलता आदि से युक्त कहना; रथों को, तलवर, कोतवाल आदि अठारह श्रेणी-समूह के भेद कर बलाबल को, सघनता-निर्धनता को, कुशलता-अकुशलता को, योग्यता-अयोग्यता को, कुबड़ापन व मोटापे को, कुरूपता-सुरूपता को, स्त्री-पुरुष-नपुंसक को, कर्मफल को, सदाचरण-असदाचरण को कहना, इत्यादि अनेक विषयों को भेद करके कहना विशेष-संग्रह-भेदक-व्यवहारनय है ।

॥ इस प्रकार व्यवहार नय के दोनों भेदों को निरूपण हुआ ॥

+ ऋजुसूत्रनय के प्रकार -

ऋजुसूत्रोपि द्विविधः ॥७३॥

अन्वयार्थ : ऋजुसूत्र नय भी दो प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

ऋजुसूत्र नय का विशेष कथन सूत्र ४१ की टीका में है ।

सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय का स्वरूप --

+ सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय -

सूक्ष्मर्जुसूत्रो यथा एकसमयावस्थायी पर्यायः ॥७४॥

अन्वयार्थ : जो नय एक समयवर्ती पर्याय को विषय करता है वह सूक्ष्म-ऋजुसूत्र नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

प्राकृत नयचक्र में भी सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है --

जो एयसमयवट्टी गेहइ दव्वे धुवत्तपज्जाओ ।

सो रिउसुत्ते सुहुमो सव्वं सद्दं जहा खणियं ॥प्रा.न.च.२११/७६॥

अर्थ – जो नय द्रव्य में एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है, वह सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय है । जैसे -- शब्द क्षणिक है ।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है --

द्रव्ये गृहाति पर्यायं ध्रुवं समयमात्रिकं ।

ऋजुसूत्राभिधः सूक्ष्मः स सर्व क्षणिकं यथा ॥सं.न.च.१८/४२॥

द्रव्य में समयमात्र रहने वाली पर्याय को जो नय ग्रहण करती है, वह सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय कही गई है । जैसे सर्व क्षणिक है ।

प्रतिसमय प्रवर्तमानार्थपर्याये वस्तुपरिणमनमित्येषः सूक्ष्म-ऋजुसूत्र नयो भवति । (१६)
अर्थपर्यायापेक्षया समयमात्रं । (१७)

अर्थ – प्रति समय प्रवर्तमान अर्थ-पर्याय में वस्तु-परिणमन को विषय करने वाला सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय है । अर्थ-पर्याय की अपेक्षा समयमात्र काल है ।

+ स्थूल ऋजुसूत्रनय -

स्थूलर्जुसूत्रो यथा मनुष्यादिपर्यायास्तदायुः प्रमाणकालं तिष्ठन्ति ॥७५॥

अन्वयार्थ : जो नय अनेक समयवर्ती स्थूल-पर्याय को विषय करता है, वह स्थूल-ऋजुसूत्र नय है । जैसे -- मनुष्यादि पर्यायों अपनी-अपनी आयु प्रमाण काल तक रहती हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

प्राकृत नयचक्र में स्थूल ऋजुसूत्र-नय का स्वरूप इस प्रकार कहा है --

मुणुवाइयपज्जाओ मणुसोति सगाट्टिदीसु वट्ठंतो ।

जो भणइ तावकालं सो थूलो होइ रिवसुत्तो ॥प्रा.न.च.११२/७७॥

अर्थ – अपनी स्थिति पर्यंत रहने वाली मनुष्य आदि पर्याय को उसमें काल तक जो नय मनुष्य आदि कहता है वह स्थूल ऋजुसूत्र-नय है ।

संस्कृत नयचक्र में इस प्रकार का है -

यो नरादिकपर्यायं स्वकीयस्थितिवर्तनं ।

तावत्कालं तथा चष्टे स्थूलाख्यऋजुसूत्रकः ॥१९/४२॥

अर्थ – मनुष्यादि पर्यायों अपनी-अपनी स्थिति तक रहती हैं । उतने काल तक मनुष्य आदि कहना स्थूल ऋजुसूत्र-नय है ।

नरनारकादिघटपटादिव्यंजनपर्यायेषु नीवपुद्गलाभिधानरूपवस्तूनि परणितानीति स्थूलऋजुसूत्रनयः (१६) व्यंजनपर्यायापेक्षया प्रारम्भतः प्रारभ्य अवसान यावद्-भवतीति निश्चयः कर्तव्य इति तात्पर्य । (१७)

अर्थ – नर-नारक आदि और घट-पट आदि व्यंजन पर्यायों में जीव और पुद्गल नामक पदार्थ परिणत हुए हैं । इस प्रकार का विषय स्थूल ऋजुसूत्र-नय का है । व्यंजन-पर्याय की अपेक्षा प्रारम्भ से अवसान तक वर्तमान पर्याय निश्चय करना चाहिये ।

॥ इस प्रकार ऋजुसूत्र नय के दोनों भवों का कथन हुआ ॥

+ शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय -

शब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः प्रत्येकमेकैका नयाः ॥७६॥

अन्वयार्थ : शब्द-नय, समभिरूढ-नय और एवंभूत-नय इन तीनों नयों में से प्रत्येक नय एक एक प्रकार का है । शब्द-नय एक प्रकार का है, समभिरूढ-नय एक प्रकार का है तथा एवंभूत-नय एक प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

शब्द नय एक प्रकार का है, समभिरूढ नय एक प्रकार का है तथा एवंभूत नय एक प्रकार का है ।

शब्द नय का कथन -

+ शब्द नय -

शब्दनयो यथा दाराः भार्या कलत्रं जलं आपः ॥७७॥

अन्वयार्थ : शब्द नय जैसे -- दारा, भार्या, कलत्र अथवा जल व आप एकार्थवाची हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

इस नय का विशेष कथन सूत्र ४१ की टीका में किया जा चुका है । किन्तु संस्कृत नयचक्र में इस प्रकार कहा है --

शब्दप्रयोगस्यार्थ जानामीति कृत्वा तत्र एकार्थमेकशब्दने ज्ञाते सति पर्यायशब्दस्य अर्थक्रमो यथेति चेत् पुष्पतारका नक्षत्रमित्येकार्थो भवति । अथवा दाराः कलत्रं भार्या इति एकार्थो भवतीति कारणेन लिंगसंख्यासाधनादि त्र्यभिचारं मुक्त्वा शब्दानुसारार्थ स्वीकर्तव्य-मिति शब्दनयः । ॥सं.न.च.१७॥

अर्थ - 'शब्दप्रयोग के अर्थ को जानता हूँ' इस प्रकार अभिप्राय को धारण करके एक शब्द के द्वारा एक अर्थ को जान लेने पर पर्यायावाची शब्द का अर्थक्रम जैसे पुष्प, तारक और नक्षत्र ये एकार्थ के वाचक हैं इसलिए इन का एकार्थ है। अथवा दारा, कलत्र, भार्या इनका एकार्थ होता है । कारणवशात् लिंग, संख्या, साधन आदि के व्यभिचार को छोड़कर शब्द के अनुसार अर्थ को स्वीकार करना चाहिये यह शब्दनय है ।

टिप्पण में कहा है -- जहाँ पर लिंग, संख्या, साधन आदि का व्यभिचार होने पर भी दोष नहीं है वह शब्द नय है ।

प्राकृत नयचक्र में इस प्रकार कहा है -

जो वट्टणं ण मण्णइ एयत्ये भिण्णलिंग आईणं ।

सो सट्ठणओ भणिओ पुस्साइयाण एद्दा ॥प्रा.न.च.२१३॥

अर्थ – जो नय एक पदार्थ में भिन्न लिंगादिक की स्थिति को नहीं मानता है वह शब्द नय है जैसे - पुष्पादि ।

शब्द नय के विषय में दो मत है-एक मत यह है कि शब्द नय लिंग आदि के दोष को दूर करता है। दूसरा मत है कि शब्द नय की दृष्टि में लिंग, संख्या, साधन आदि का दोष नहीं है ।

+ समभिरूढ नय -

समभिरूढनयो यथा गौः पशुः ॥७८॥

अन्वयार्थ : नाना अर्थों को 'सम' अर्थात् छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ होता है वह समभिरूढ है । जैसे -- 'गो' शब्द के वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं तथापि वह 'पशु' अर्थ में रूढ है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

समभिरूढ नय का स्वरूप विस्तारपूर्वक सूत्र ४१ की टीका में कहा जा चुका है । आगे सूत्र २०१ में भी इसका लक्षण कहेंगे ।

+ एवंभूत-नय -

एवंभूतनयो यथा इन्द्रतीति इन्द्रः ॥७९॥

अन्वयार्थ : जिस नय में वर्तमान क्रिया ही प्रधान होती है वह एवंभूतनय है । जैसे -- जिस समय देवराज इन्द्रन क्रिया को करता है उस समय ही इस नय की दृष्टि में वह इन्द्र है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र ४१ की टीका में एवंभूत नय का स्वरूप सविस्तार कहा जा चुका है । आगे सूत्र २०२ में भी इसका स्वरूप कहा जाएगा ।

द्रव्यार्थिक नय के १० भेद, पर्यायार्थिक नय के ६ भेद, नैगम नय के ३ भेद, संग्रहनय के २ भेद, व्यवहार नय के २ भेद, ऋजुसूत्र नय के २ भेद, शब्द नय, समभिरूढनय और एवंभूतनय ये तीन, इस प्रकार नय के २८ भेदों का कथन हुआ ।

+ उपनय के भेद -

उपनयभेदा उच्यन्ते ॥८०॥

अन्वयार्थ : उपनय के भेदों को कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

उपनय का लक्षण सूत्र ४३ में कहा जा चुका है । उसके तीन मूल भेद हैं -१. सद्भूत, २. असद्भूत, ३. उपचरित असद्भूत व्यवहारनय ।

+ सद्भूत व्यवहारनय के प्रकार -

सद्भूतव्यवहारो द्विधा ॥८१॥

अन्वयार्थ : सद्भूत व्यवहारनय दो प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र ४४ में उपनय के तीन भेद बतलाये थे - १. सद्भूत व्यवहारनय, २. असद्भूत व्यवहारनय, ३. उपचरित असद्भूत व्यवहार-नय । इनमें से सर्वप्रथम सद्भूत व्यवहारनय के भेदों को कहते हैं । व्यवहारनय का लक्षण तथा सद्भूत व्यवहारनय का लक्षण सूत्र ४४ की टीका में कहा जा चुका है, आगे भी सूत्र २०५ व २०६ में कहेंगे । शुद्धसद्भूत और अशुद्ध-सद्भूत के भेद से सद्भूत व्यवहारनय दो प्रकार की है ।

+ शुद्ध-सद्भूत व्यवहारनय -

शुद्धसद्भूत व्यवहारो यथा शुद्धगुणशुद्धगुणिनोः शुद्धपर्याय- शुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम् ॥८२॥

अन्वयार्थ : शुद्धगुण और शुद्धगुणी में तथा शुद्धपर्याय और शुद्धपर्यायी में जो नय भेद का कथन करता है वह शुद्धसद्भूत व्यवहारनय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध जीव गुणी और क्षायिक शुद्ध ज्ञान में तथा सिद्ध जीव व सिद्ध-पर्याय में भेद कथन करना शुद्धसद्भूत व्यवहारनय का विषय है ।

संस्कृत नयचक्र में भी इस प्रकार कहा है -

संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भित्वा शुद्धद्रव्ये गुणगुणिविभागैक-लक्षणं कथयन्
शुद्धसद्भूतव्यवहारोपनयः । (२१)

संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन के द्वारा भेद करके शुद्ध द्रव्य में गुण और गुणों के विभाग के एक मुख्य-लक्षण को कहने वाला शुद्धसद्भूत व्यवहारनय है ।

+ अशुद्ध-सद्भूत-व्यवहारनय -

अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथाऽशुद्धगुणाशुद्धगुणिनोरशुद्ध- पर्यायाशुद्धपर्यायिणोर्भेद कथनम् ॥८३॥

अन्वयार्थ : अशुद्ध-गुण और अशुद्ध-गुणी में तथा अशुद्ध-पर्याय और अशुद्ध-पर्यायी में जो नयभेद का कथन करता है वह अशुद्ध-सद्भूत-व्यवहारनय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भित्त्वा अशुद्धद्रव्ये गुणगुणि-विभागैकलक्षणं कथयन्
अशुद्धसद्भूतव्यवहारोपनयः । (सं.न.च.२१)

अर्थ – संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन के द्वारा भेद करके अशुद्ध द्रव्य में गुण और गुणी और गुणी के विभाग रूप मुख्य लक्षण को कहने वाला अशुद्ध-सद्भूतव्यवहार-नय है ।

॥ इस प्रकार सद्भूत-व्यवहारनय के दोनों भेदों का कथन हुआ ॥

+ असद्भूत-व्यवहारनय के प्रकार -

असद्भूतव्यवहारस्तेधा ॥८४॥

अन्वयार्थ : असद्भूत-व्यवहारनय तीन प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

असद्भूत व्यवहारनय का लक्षण सूत्र ४४ की टीका में कहा जा चुका है और आगे भी सूत्र २०७ में कहेंगे । संस्कृत नयचक्र में भी कहा है --

यदन्यस्य प्रतिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र कल्पना असद्भूतो भवेद्धावः । (सं.न.च.२२)

अर्थ – अन्य के प्रसिद्ध धर्म को किसी अन्य में कल्पित करना सो असद्भूत-व्यवहारनय है ।

असद्भूत-व्यवहारनय के तीन भेद है -- १. स्वजात्यसद्भूत-व्यवहारनय, २. विजात्यसद्भूत-व्यवहारनय, ३. स्वजातिविजात्यसद्भूत-व्यवहारनय ।

+ स्वजाति-असद्भूत-व्यवहार-उपनय -

स्वजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा परमाणुर्बहुप्रदेशीति कथन-मित्यादि ॥८५॥

अन्वयार्थ : स्वजाति-असद्भूत-व्यवहारनय, जैसे -- परमाणु को बहुप्रदेशी कहना, इत्यादि ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

जो नय स्वजातीय द्रव्यादिक में स्वजातीय द्रव्यादि के सम्बन्ध से होने वाले धर्म को आरोपण करता है वह स्वजात्यसद्भूत-व्यवहारनय है ।

जैसे - परमाणु बहुप्रदेशी है । परमाणु अन्य परमाणुओं के सम्बन्ध से बहुप्रदेशी हो सकता है । यहाँ पर स्वजातीय द्रव्य में स्वजातीय द्रव्य के सम्बन्ध से होने वाली विभाव-पर्याय का आरोपण किया गया है । कहा भी है --

अणुरेकप्रदेशोपि येनानेकप्रदेशकः ।
वाच्यो भवेदसद्भूतो व्यवहारः स भण्यते ॥५॥ (सं.न.च.४७)

अर्थ – जिसके द्वारा अणु एकप्रदेशी होने पर भी बहुप्रदेशी बतलाया जाता है वह भी असद्भूत-व्यवहारनय है ।

संस्कृत नयचक्र में स्वजात्यसद्भूत-व्यवहारनय का कथन इस प्रकार किया गया है --

पुद्गलद्रव्यस्य घटपटादिसम्बन्धप्रबन्धपरिणतिविशेषकथकः
स्वजात्यसद्भूतव्यवहारोपनयः ।स्कंधरूपस्वरूपेषु पुद्गलस्त्विति भाष्यते,
इत्यसद्भूतरूपोसौ व्यवहारस्वजातिकः । (सं.न.च.२२)

अर्थ – घट वस्त्र इत्यादिक सम्बन्धी रचना की परिणति विशेष को पुद्गल द्रव्य के बतलाने वाला स्वजात्यसद्भूत व्यवहार उपनय है । अथवा स्कन्धरूप निजपर्यायों में पुद्गल है इस प्रकार का कथन करने वाला स्वजाति से असद्भूत व्यवहाररूप स्वजात्यासद्भूत व्यवहारोपनय है ।

+ विजाति-असद्भूत-व्यवहार उपनय -

विजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा मूर्त मतिज्ञानं यतो मूर्त द्रव्येण जनितम् ॥८६॥

अन्वयार्थ : विजात्य-सद्भूत-व्यवहार उपनय, जैसे -- मतिज्ञान मूर्त है क्योंकि मूर्त-द्रव्य से उत्पन्न हुआ है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जो नय विजातीय द्रव्यादिक में विजातीय द्रव्यादिक का संस्थापन करता है वह विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय है । जैसे -- मूर्तिक मतिज्ञानावरण कर्म और वीर्यतरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला क्षायोपशमिक मतिज्ञान मूर्तिक है । यहाँ पर मतिज्ञान नामक आत्मगुण में पौद्गलिक मूर्तत्वगुण कहा गया है ।

संस्कृत नयचक्र में इस उपनय का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है --

एकेन्द्रियादिजीवानां शरीराणि जीवस्वरूपाणीति विजात्यसद्भूत-व्यवहारोपनयः ।...
एकेन्द्रियादिजीवानां देहं जीव इति ध्रुवं वक्त्य-सद्भूतको नूनं स्याद् विजातीति संज्ञितः ।
(सं.न.च.२२)

अर्थ – एकेन्द्रियादि जीवों के शरीर जीवस्वरूप हैं, इस प्रकार से कथन करने वाला विजातीय-असद्भूत-व्यवहार-उपनय है । एकेन्द्रियादि जीवों का शरीर जीव है, इस प्रकार कथन करने वाला विजातीय-असद्भूत-व्यवहार-उपनय है । यहाँ विजाति द्रव्य को विजाति द्रव्य में कहा गया है ।

शरीरमपि वो जीवं प्राणिनो वदति स्फुटं ।
असद्भूतो विजातीयो ज्ञातव्यो मुनिवाक्यतः ॥१॥

मूर्तमेवमिति ज्ञानं कर्मणा जनितं यतः
यदि नैव भवेन्मूर्तमूर्तेन स्खलितं कुतः ॥२॥ (सं.न.च.४५)

अर्थ – जो प्राणियों के शरीर को ही जीव बतलाता है, वह स्पष्टतया विजातीय-असद्भूतव्यवहार उपनय समझना चाहिए, क्योंकि विजातीय पुद्गल द्रव्य में विजातीय जीव द्रव्य का कथन किया गया है ॥१॥ विजातीय गुण में विजातीय गुण का आरोपण करने से भी असद्भूत व्यवहार होता है । जैसे -- कर्म-जनित होने से ज्ञान मूर्त है, यदि मूर्त नहीं है तो मूर्त से स्खलित क्यों होता । मतिज्ञान मूर्त द्रव्य से स्खलित होता है अतः मतिज्ञान को मूर्त कहना सत्य है, सर्वथा असत्य नहीं है ।

+ स्वजाति-विजाति-असद्भूत-व्यवहार उपनय -

स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा ज्ञेये जीवेऽजीवे ज्ञानमिति कथनं ज्ञानस्य विषयात् ॥८७॥

अन्वयार्थ : ज्ञान का विषय होने के कारण जीव अजीव ज्ञेयों में ज्ञान का कथन करना स्वजाति-विजात्य-सद्भूत-व्यवहारोपनय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जीव और अजीव, ज्ञान का विषय होने के कारण विषय में विषयी का उपचार करके जीव-अजीव ज्ञेय को ज्ञान कहा गया है । यहाँ पर ज्ञान-गुण की अपेक्षा जीव स्वजातीय है और अजीव विजातीय है । जीव की अपेक्षा स्वाजातीय तथा अजीव की अपेक्षा विजातीय में ज्ञान-गुण का कथन किया गया है ।

संस्कृत नयचक्र में इस नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा गया है --

जीवपुद्गलानां परस्परसंयोगप्रबंधपरिणतिविशेषकथकः स्वजाति-
विजात्यसद्भूतव्यवहारोपनयः ।....स्वजातीतर रूपादिवस्तुश्रद्धेयरूपकः तत् प्रधानं
वदत्येवं द्वंद्वग्राही नयो भवेत् । (सं.न.च.२२)

अर्थ – जीव और पुद्गलों के परस्पर संयोग रचनारूप परिणतिविशेष को बतलाने वाला स्वजातिविजातीय-असद्भूतव्यवहार-उपनय है । स्वजातीय और विजातीय वस्तु

श्रद्धेरूप हैं उसको प्रधान करके जो कहता है वह द्वंद्वसंयोग को अर्थात् स्वजाति-विजाति-संयोग को ग्रहण करने वाला स्वजातिविजातीय-असद्भूत-व्यवहार उपनय है ।

॥ इस प्रकार असद्भूतव्यवहारनय के तीनों भेदों का कथन हुआ ॥

+ उपचरित असद्भूत व्यवहारनय के प्रकार -

उपचरितासद्भूतव्यवहारस्त्रेधा ॥८८॥

अन्वयार्थ : उपचरित असद्भूत व्यवहारनय तीन प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

१. स्वजात्युपचरित-असद्भूतव्यवहार-उपनय, २. विजात्युपचरित-असद्भूतव्यवहार-उपनय, ३. स्वजातिविजात्युपचरित-असद्भूत-व्यवहार-उपनय के भेद से उपचरित असद्भूतव्यवहार-उपनय तीन प्रकार का है । इनका कथन आगे किया जा रहा है ।

संस्कृत नयचक्र में कथन इस प्रकार है --

उपचारादप्युपचार यः करोति स उपचरितसद्भूतव्यवहारः । स च सत्यासत्योभयार्थेन त्रिधा । (सं.न.च.४८)

देशनाथो यथा देशे जातो यथार्थनायकः ।

देशार्थो जल्पमानो मे सत्यासत्योभयार्थकः ॥१॥

अर्थ – जो उपचार से भी उपचार करता है वह उपचरित-असद्भूत-व्यवहार उपनय है । वह सत्योपचारासद्भूत, असत्योपचारासद्भूत और उभयोपचारासद्भूत के भेद से तीन प्रकार का है ।

जो नय किसी प्रयोजन या निमित्त से बिलकुल भिन्न स्वजातीय, विजातीय तथा स्वजातिविजातीय पदार्थों को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह उपचरितासद्भूत-व्यवहार उपनय है ।

प्राकृत नयचक्र में भी इसी प्रकार कहा है --

उवयारा उवयारं सच्चासक्ष्वेसु उदयश्रुत्येसु ।

सज्जाइइयरमिस्सो उवयरिओ कुणइ ववहारो ॥प्रा.न.च.७१॥

स्वजातीयोपचरितासद्भूतव्यवहारो विजातीयोपचरितासद्भूत-व्यवहारः सजातीय-विजातियोपचरितासद्भूतव्यवहारः इति उपचरिता-सद्भूततोपि त्रेधा ।

देसवई देसत्यो अत्यवणिज्जो तहेव जंपंतो ।
में देसं मे दव्वं सच्चाससच्चंपि उभयत्थं ॥७२॥

अर्थ – जो नय सत्य (स्वजाति) पदार्थ में असत्य (विजातीय) पदार्थ में और उभय (स्वजातीय-विजातीय) पदार्थ में उपचार से भी उपचार करता है वह स्वजाति-उपचरित-असद्भूत व्यवहार-उपनय, विजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार-उपनय और स्वजाति-विजाति-उपचरित-अद्भूत-व्यवहार-उपनय है ।

स्वजातीयोपचरिताद्भूतव्यहार, विजातीयोपचरितासद्भूतव्यवहार,
स्वजातीयविजातियोपचरितासद्भूत-व्यवहार के भेद से उपचरितासद्भूतव्यवहार
उपनय तीन प्रकार का है ।

जिस प्रकार देश का स्वामी देशपति तथा अर्थ का स्वामी अर्थपति होता है उसी प्रकार सत्यपदार्थ (स्वजातीय पदार्थ), असत्य (विजातीय) पदार्थ और स्वजातीय-विजातीयपदार्थों तो मेरा देश, मेरा द्रव्य है, इत्यादि कहा जाता है ।

राजा देश का स्वामी होता है और सेठ (धनपति) धन का स्वामी होता है। स्त्री का स्वामी पति होता है । यह सब कथन यद्यपि उपचरित-असद्भूत-व्यवहार उपनय का विषय है तथापि यथार्थ है । यदि यथार्थ न होता तो सीता के हरी जाने पर सीतापति श्री रामचन्द्र जी रावण से युद्ध क्यों करते ? इसी प्रकार देश की रक्षा के लिए देशपति राजा शत्रु के साथ युद्ध क्यों करते ? तथा रावण, कौरव आदि दोषी क्यों होते ? इससे सिद्ध है कि स्त्री, धन व देश आदि का स्वामिपना स्तात् यथार्थ है । यदि इस सम्बन्ध को अर्थात् स्वामिपने को सर्वथा अयथार्थ मान लिया जाय तो अराजकता और अन्याय फैल जायगा । चोरी आदि पाप नहीं ठहरेगा । इसका विशेष कथन सूत्र २१३ की टीका में है ।

+ स्वजात्युपचरितासद्भूत-व्यहार-उपनय -

स्वजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा पुत्रदारादि मम ॥८९॥

अन्वयार्थ : पुत्र, स्त्री आदि मेरे हैं ऐसा कहना स्वजात्युपचरितासद्भूत-व्यहारनय का विषय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जो नय उपचार से स्वजातीय द्रव्य का स्वजातीय द्रव्य को स्वामी बतलाता है वह स्वजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय है । जैसे -- पुत्र, स्त्री आदिक मेरे हैं । संस्कृत नयचक्र में भी कहा है --

पुत्रमित्रकलत्रादि ममैतवहमेव वा ।

वदन्नेवं भवत्येषोऽसद्भूतो ह्युपचारवान् ॥सं.न.च.२/४८॥

‘ये पुत्र, मित्र, स्त्री आदि मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ’ यह कथन सत्योपचार असद्भूत व्यवहार की अपेक्षा है । लोकोपचार में यथार्थ स्वामित्वपना पाया जाता है किन्तु आत्मरूप नहीं है इसलिये असद्भूत है ।

प्राकृत नयचक्र में भी इसी प्रकार कहा है --

पुत्ताइबंधुवग्ग अहं च मम संपयाइ जंपंतो ।
उवयारासब्भूओ सज्जाइदव्वेसु णायव्वो ॥प्रा.न.च.७३॥

अर्थ – पुत्रादि बन्धु वर्ग का मैं स्वामी हूँ, ये मेरी सम्पदा है, ऐसा कहना स्वजातिउपचरित-असद्भूत-व्यवहार उपनय है ।

इस नय का विषय यथार्थ है। सूत्र ८८ व २१३ विशेषार्थ में विशद कथन है ।

+ विजात्युपचरित-असद्भूत-व्यवहार उपनय -

विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा वस्त्राभरणहेमरत्नादिमभ ॥९०॥

अन्वयार्थ : वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण, रत्नादि मेरे हैं ऐसा कहना विजात्युपचरित-असद्भूत-व्यवहार उपनय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सोना, चाँदी आदि अपनी जाति के द्रव्य नहीं हैं, अतः विजातीय द्रव्य हैं । आत्मरूप नहीं हैं अतः असद्भूत हैं । तथापि लोकोपचार में यथार्थ स्वामित्वपना पाया जाता है । संस्कृत नयचक्र में कहा भी है --

हेमाभरणवस्त्रादि ममेदं यो हि भाषते ।
उपचाराद्सद्भूतो विद्वद्भिः परिभाषितः ॥सं.न.च.३/४८॥

अर्थ – ‘सोना, आभरण वस्त्र आदि मेरे हैं’ जो नय ऐसा कहता है, विद्वज्जनों ने उस नय को विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार नय कहा है ।

प्राकृत नयचक्र/१७ पर भी इसी प्रकार कहा है --

आहरणहेमरयण वत्थादीया ममत्ति जंपंतो ।
उवयारश्रसब्भूओ विजादिदव्वेसु णायव्वो ॥प्रा.न.च.७४॥

‘आभरण, सोना, वस्त्रादि मेरे हैं’ ऐसा कहना विजात्युपचरितासद्भूत-व्यवहार-उपनय जानना चाहिए । सूत्र ८८ व २१३ में इसका विशेष कथन है ।

स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देशराज्यदुर्गादि मम ॥९१॥

अन्वयार्थ : 'देश, राज्य, दुर्ग, आदि मेरे हैं' यह स्वजातिविजात्युपचरित-असद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

यहाँ पर मिश्र द्रव्य का स्वामिपना बतलाया गया है, क्योंकि देशादिक में सचेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार के पदार्थों का समावेश रहता है । 'मैं' की अपेक्षा से देशादिक में रहने वाले सचेतन पदार्थ स्वजातीय हैं और अचेतन पदार्थ विजातीय हैं । अतः 'यह देश अथवा राज्य मेरा है' ऐसा ग्रहण करना स्वजातिविजात्युपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय है । यहाँ पर सचेतन-अचेतन-मिश्र पदार्थ को अभेदरूप से ग्रहण किया गया है ।

देशं दुर्गं च राज्यं च गृहातीह ममेति यः ।

उभयार्थोपचारत्वाद्सद्भूतोपचारकः ॥४॥ (सं.न.च./४८)

अर्थ – जो नय देश, दुर्ग, राज्य आदि को ग्रहण करता है वह नय चेतना-चेतन मिश्र पृथक् पदार्थ को अपने बतलाता है । वह स्वजातिविजात्युपचरिता-सद्भूत व्यवहार उपनय है ।

देसं च रज्जुं दुर्गं एवं जो चेव भणइ मम सव्वं ।

उहयत्थे उपयारिओ होइ असब्भूयवहारो ॥७५॥ (प्रा.न.च.१७)

अर्थ – देश, राज्य, दुर्ग से सब मेरे हैं ऐसा जो नय कहता है वह स्वजाति-विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय है ।

॥ उपचरित-असद्भूत-व्यवहार उपनय के तीनों भेदों का कथन हुआ ॥

गुण-व्युत्पत्ति अधिकार

अन्वयार्थ : साथ में होने वाले गुण हैं और क्रम-क्रम से होने वाली पर्यायें हैं । अर्थात् अन्वयी गुण हैं और व्यतिरेक परिणाम पर्यायें हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

संस्कृत नयचक्र में कहा है --

सहभुवो गुणाः । क्रमभाविनः पर्यायाः । (सं.न.च.५७)

अर्थ – साथ में होने वाला गुण है और कमवर्ती पर्यायें हैं ।

ऐसा नहीं है कि द्रव्य पहले हो और बाद में गुणों से सम्बन्ध हुआ हो । किन्तु द्रव्य और गुण अनादि काल से हैं इनका कभी भी विच्छेद नहीं होता है अतः गुण का लक्षण 'सहभुवः' कहा है। अथवा जो निरन्तर द्रव्य में रहते हैं और अन्य गुण से रहित हैं वे गुण हैं । (मो.शा.५/४)

विशेष गुण का लक्षण --

+ गुण -

गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्याद्यैस्तेगुणाः ॥९३॥

अन्वयार्थ : जिनके द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् किया जाता है, वे (विशेष) गुण कहलाते हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

संस्कृत नयचक्र में कहा है --

गुणव्युत्पत्तिर्गुण्यते पृथक् क्रियते द्रव्याद्द्रव्यं येनासौ विशेष-गुणः । (सं.न.च.५८)

अर्थ – जिसके द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् किया जाता है वह विशेषगुण है, यह गुण का व्युत्पत्ति अर्थ है ।

सामान्यगुण और विशेषगुण के भेद से गुण दो प्रकार के हैं । सामान्य-गुण सब द्रव्यों में पाये जाते हैं । उन सामान्यगुणों के द्वारा तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता, विशेषगुणों के द्वारा ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् किया जा सकता है, अतः गुण का यह व्युत्पत्ति अर्थ विशेष गुण में ही घटित होता है और 'सहभुवो गुणाः' अथवा 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥त.सू.२/४१॥' ये दोनों लक्षण सब गुणों में घटित होते हैं ।

+ अस्तित्व गुण -

अस्तीत्येतस्य भावोऽस्तिस्वं सद्रूपत्वम् ॥९४॥

अन्वयार्थ : 'अस्ति' के भाव को अर्थात् सत्-रूपपने को अस्तित्व कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

संस्कृत नयचक्र में कहा है --

अस्तित्वस्य भावोऽस्तित्वं । सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्यापनोतीति सत् । (सं.न.च)

अर्थ – अस्तित्व का भाव अस्तित्व है । अपने गुण और पर्याय में व्याप्त होने वाला सत् है ।

अस्तित्व गुण का विशेष कथन सूत्र ९ की टीका में किया जा चुका है ।

+ वस्तुत्व गुण -

वस्तुनोभावो वस्तुत्वम्, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु ॥९५॥

अन्वयार्थ : सामान्य-विशेषात्मक वस्तु होती है । उस वस्तु का जो भाव वह वस्तुत्व है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

यही लक्षण संस्कृत नयचक्र में कहा गया है ।

परीक्षामुख चतुर्थ अध्याय में वस्तु का तथा सामान्य व विशेष का लक्षण निम्न प्रकार कहा गया है --

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥ सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥३॥ सद्दशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥४॥ परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥५॥ विशेषश्च ॥६॥ पर्याय व्यतिरेकभेदात् ॥७॥ एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥ अर्थान्तरगतो विसद्दशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥९॥

अर्थ – सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है ॥१॥ तिर्यक्-सामान्य और ऊर्ध्वता-सामान्य के भेद से सामान्य दो प्रकार का है ॥३॥ सद्दश अर्थात् सामान्य परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं, जैसे -- खण्डी, मुण्डी आदि गायों में गोपना समान रूप से रहता है ॥४॥ पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता-सामान्य कहते हैं । जैसे -- स्थास, कोश, कुशूल आदि घट की पर्यायों में मिट्टी रहती है ॥५॥ विशेष भी दो प्रकार का है, पर्याय, व्यतिरेक के भेद से ॥६-७॥ एक द्रव्य में कम से होने वाले परिणाम को पर्याय कहते हैं । जैसे -- आत्मा में हर्ष, विषाद आदि परिणाम क्रम से होते हैं, वे ही पर्याय हैं ॥८॥ एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहने वाले

विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं । जैसे -- गाय, भैंस आदि में विलक्षणपना पाया जाता है ॥९॥

+ द्रव्यत्व गुण -

**द्रव्यस्यभावो द्रव्यत्वम् निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावविभावपर्यायान्
द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम् ॥९६॥**

अन्वयार्थ : जो अपने-अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखण्डपने से अपने स्वभाव-विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है, वह द्रव्य है । उस द्रव्य को जो भाव है, वह द्रव्यत्व है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

वस्तु के सामान्य अंश को द्रव्यत्व कहते हैं, क्योंकि वह सामान्य ही विशेषों (पर्यायों) को प्राप्त होता है । जैसे -- पिंड और घट पर्यायों को मिट्टी प्राप्त होती है । सामान्य के बिना विशेष नहीं हो सकते और विशेष के बिना सामान्य नहीं रह सकता ।

पंचास्तिकाय की टीका में भी कहा है --

द्रवति गच्छति सामान्यरूपेण स्वरूपेण व्याप्नोति तांस्तान् क्रम-भुवः सहभुवश्च सद्भावपर्यायान् स्वभावविशेषानित्यनुगतार्थया निरूक्त्या द्रव्यं व्याख्यातम् । (पं.का. ९.टी)

अर्थ – उन-उन क्रमभावी, सहभावी पर्यायों को अर्थात् स्वभाव-विशेषों को जो द्रवित (प्राप्त) होता है, सामान्यरूप स्वरूप से व्याप्त होता है वह द्रव्य है । इस प्रकार निरूक्ति से द्रव्य की व्याख्या की गई ।

+ सत् -

**सद्द्रव्यलक्षणम् सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोतीति सत्;
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥९७॥**

अन्वयार्थ : द्रव्य का लक्षण सत् है । अपने गुण-पर्यायों को व्याप्त होने वाला सत् है । अथवा जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सूत्र ६ में 'सद्द्रव्यलक्षणम्' और सूत्र ७ में 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' का अर्थ कहा जा चुका है ।

द्रव्य-सामान्य ही अपने गुण और पर्यायों में व्याप्त होता है, वह द्रव्य सामान्य ही द्रव्यार्थिक नय का विषय है । जैसे -- स्वर्ण ही अपने पीतत्व आदि गुणों को तथा कुण्डल आदि पर्यायों को प्राप्त होता है । द्रव्य आधार है; गुण और पर्याय आधेय हैं । कहा भी है

द्रव्याश्रयानिर्गुणागुणाः ॥त.सू.५/४१॥

जिनके रहने का आश्रय द्रव्य है, वे द्रव्याश्रय कहलाते हैं अर्थात् जो सदा द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और जो गुणों से रहित हैं, वे गुण हैं ।

+ प्रमेयत्व गुण -

प्रमेयस्यभावः प्रमेयत्वम्, प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम् ॥९८॥

अन्वयार्थ : प्रमाण के द्वारा जानने के योग्य जो स्व और पर-स्वरूप है, वह प्रमेय है । उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

परीक्षामुख में प्रमाण का लक्षण निम्न प्रकार कहा है-

स्वापूर्वार्थव्ययसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥

अर्थ - स्व और अपूर्व अर्थ (अनिश्चित अर्थ) का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है ।

अथवा, जो ज्ञान स्व और पर स्वरूप को विशेष रूप से निश्चय करे, वह प्रमाण है । उस प्रमाण के द्वारा जो जानने योग्य है अथवा जो प्रमाण के द्वारा जाना जाय, वह प्रमेय है । उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं ।

जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य ज्ञान का विषय अवश्य होता है वह प्रमेयत्व गुण है । यदि द्रव्य में प्रमेयत्व गुण न हो वह किसी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता था ।

यद्यपि अन्य गुणों में और पर्यायों में प्रमेयत्व गुण नहीं है तथापि वे गुण और पर्याय द्रव्य से अभिन्न हैं इसलिए वे भी ज्ञान का विषय बन जाते हैं । यदि कहा जाय कि भूत और भावि पर्यायों का वर्तमान काल में द्रव्य में अभाव है, अर्थात् उनका प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव है, वे ज्ञान का विषय नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनमें प्रमेयत्व गुण नहीं पाया जाता तो ऐसा कहना ठीक नहीं है । यद्यपि भूत और भावि पर्यायों का वर्तमान में अभाव है, क्योंकि एक समय में एक ही पर्याय रहती है, तथापि वे भूत और भावि पर्याय वर्तमान पर्यायों में शक्तिरूप से रहती हैं और वर्तमान पर्याय द्रव्य से अभिन्न होने के कारण ज्ञान का विषय है । अतः वर्तमान पर्याय में शक्तिरूप से पड़ी हुई भूत और भावि पर्यायें भी ज्ञान का विषय बन जाती हैं । कहा भी है --

जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पर्याय में ही अर्थपना पाया जाता है । (ज.ध.१/२२ व २३)

शंका – वह अर्थ अतीत और अनागत पर्यायों में भी समान है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि अनागत और अतीत पर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक होता है । अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायें भूतशक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ में ही विद्यमान रहती हैं । अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है, इसलिये उन्हें 'अर्थ' यह संज्ञा नहीं दी गई ।

(नोट -- इसका विशेष कथन सूत्र ३७ के विशेषार्थ में है।)

+ अगुरूलघु गुण -

**अगुरूलघोर्भावोऽगुरूलघुत्वम् सूक्ष्मा अवागोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना
आगमप्रमाण्यादभ्युपगम्या अगुरूलघुगुणाः ॥९९॥**

अन्वयार्थ : जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रतिसमय में परिणमनशील है तथा आगम प्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरूलघुगुण है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद्वाह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥५॥

जिनेन्द्र-भगवान के कहे हुए सूक्ष्म-तत्त्व हेतुओं के द्वारा खण्डित नहीं किये जा सकते । उन आज्ञासिद्ध सूक्ष्म तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं होते ।

विशेषार्थ – अगुरूलघु गुण के विषय में सूत्र ९ व सूत्र १७ के विशेषार्थ में बहुत कुछ कहा जा चुका है, वहां से देख लेना चाहिये ।

अनेक विषमभावरूपी गहन संसार में प्राप्ति के हेतु कर्मरूपी शत्रु हैं । इन कर्मरूपी शत्रुओं को जिनसे जीत लिया अथवा क्षय कर दिया, वह जिन हैं । उन जिनेन्द्र भगवान ने ही अगुरूलघुगुण का कथन किया है और वह अनुमान आदि से भी सिद्ध होता है ।

+ प्रदेशत्व गुण -

प्रदेशस्यभावः प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं अविभागिपुद्गलपरमाणु-नावष्टब्धम् ॥१००॥

अन्वयार्थ : प्रदेश का भाव प्रदेशत्व है अथवा क्षेत्रत्व है । एक अविभागी पुद्गल परमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

वृहद् द्रव्यसंग्रह में भी प्रदेश का लक्षण निम्न प्रकार कहा है --

जावदियं आयासं अविभागीपुगलाणुवट्टद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्टाणुदाणरिहं ॥ब्र.द्र.सं.२७॥

अर्थ – जितना आकाश का क्षेत्र अविभागी पुद्गल परमाणु द्वारा रोका जाता है वह प्रदेश है।

प्राकृत नयचक्र में प्रदेश का लक्षण निम्न प्रकार का है --

जैत्तियभेत्तं खेतं अणूण रूद्धं खु गयणदव्वस्स ।
तं च पण्सं भणियं जाण तुमं सव्वद्रसीहि ॥प्रा.न.च.१४१॥

अर्थ – आकाश द्रव्य के जितने क्षेत्र को पुद्गल परमाणु रोकता है, उसको प्रदेश जानो, ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है ।

इस आकाश प्रदेश के द्वारा ही धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, जीव-द्रव्य और काल-द्रव्य में प्रदेशों की गणना की जाती है ।

+ चेतनेत्व -

चेतनस्य भावश्चेतनत्वम् चैतन्यमनुभवनम् ॥१०१॥

अन्वयार्थ : चेतन के भाव को अर्थात् पदार्थों के अनुभव को चेतनेत्व कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

चैतन्यमनुभूतिः स्यात् सा क्रियारूपमेव च ।
क्रिया मनोवचःकायेष्वन्विता वर्तते ध्रुवम् ॥६॥

चैतन्य नाम अनुभूति का है। वह अनुभूति क्रियारूप अर्थात् कर्तव्य-स्वरूप ही होती है। मन, वचन, काय में अन्वित (सहित) वह क्रिया नित्य होती रहती है ।

विशेषार्थ – जीवाजीवादि पदार्थों के अनुभवन को, जानने को चेतना कहते हैं । वह अनुभवन ही अनुभूति है । अथवा द्रव्यस्वरूप चिंतन को अनुभूति कहते हैं । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ३९ की टीका में लिखा है --

चेतयन्ते अनुभवन्ति उपलभन्ते विदन्तीत्येकार्याश्चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात् ।
(पं.का.३९.टी)

अर्थ – चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है ये एकार्थ है क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना का एकार्थ है ।

+ अचेतनत्व -

अचेतनस्य भावेऽचेतनत्वमचेतन्यमननुभवनम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ : अचेतन के मात्र को अर्थात् पदार्थों के अननुभवन को अचेतनत्व कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जीव के अतिरिक्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांचों द्रव्य अचेतन है, जड़ हैं, क्योंकि इनमें जानने की शक्ति अर्थात् अनुभवन का अभाव है ।

+ जीव स्यात् रूपी अरूपी -

मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम् ॥१०३॥

अन्वयार्थ : संसारी जीव रूपी है और कर्मरहित सिद्धजीव अरूपी हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

पुद्गल और संसारी जीव मूर्त हैं । सूत्र २९ में भी जीव के मूर्त स्वभाव कहा है । श्री अमृतचन्द्रादि अन्य आचार्यों ने भी संसारी जीव को मूर्तिक कहा है ।

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात् ।

नह्यमूर्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥१९॥ (त.सा.बंध)

अर्थ – आत्मा मूर्तिक होने के कारण मदिरा से पागल हो जाती है, किन्तु अमूर्तिक आकाश को मदिरा मदकारिणी नहीं होती है ।

यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुधन्द्चन्द नादिवनराजीं परिणमन्न द्रवत्यस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्या कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्व- निरूपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते । (प्र.सा.१११८ टीका)

अर्थ – जैसे पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्ब, चन्दनादि वन-राजिरूप परिणमित होता हुआ द्रवत्व और स्वादुत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से अमूर्तत्व और विकाररहित विरूद्ध स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता ।

जीवाजीवं दव्वं रूवारूवित्ति होदि पत्तेयं ।

संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया ॥ (गो.जी.५६३)

अर्थ – संसारी जीवरूपी (मूर्तिक) है और कर्म-रहित सिद्ध-जीव अमूर्तिक हैं ।

कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगय जीवदव्वाणं च पच्चक्खेण परिच्छित्तिं कुणइ ओहिणाणं । (ज.ध.१/४३)

अर्थ – कर्म के सम्बन्ध से पुद्गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्षरूप से जानता है, वह अवधिज्ञान है । ध.१३/३३३ पर भी इसी प्रकार कहा है ।

अनादिबन्धनबद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धेः । (ध.१/१९२)

अर्थ – जीव के प्रदेश अनादिकालीन बन्धन से बद्ध होने के कारण मूर्त हैं अतः उनका मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं आता ।

इसी प्रकार ध.१६/५१२ पर भी कहा है ।

ध.१५/३२, पु० १४/४५ पर कहा है -- अनादिकालीन बन्धन से बद्ध रहने के कारण जीव के अमूर्तत्व का अभाव है ।

+ अमूर्तत्व -

अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ : अमूर्त के भाव को अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहितपने को अमूर्तत्व कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सिद्धजीव, धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल-द्रव्य ये अमूर्तिक हैं । इनमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं पाया जाता है और पुद्गल द्रव्य से बंधे हुए भी नहीं हैं, इसलिये असद्भूत व्यवहारनय से भी इनके मूर्तपना नहीं है ।

॥ इस प्रकार गुणों की व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

पर्याय-व्युत्पत्ति अधिकार

+ पर्याय -

स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्यायः ॥१०५॥

अन्वयार्थ : जो स्वभाव विभावरूप से सदैव परिणमन करती रहती है, वह पर्याय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र १५ में 'गुणविकाराः पर्यायाः' कहा है । परि+आयः=पर्यायः है । परि का अर्थ समन्ताते है और आयः का अर्थ अय गतौ अयनं है ।

स्वभाव और विभाव के भेद से पर्याय दो प्रकार की है । बन्धन से रहित शुद्ध द्रव्यों की अगुरुलघुगुण की षड्वृद्धि हानि के द्वारा स्वभाव पर्याय होती है । बन्धन को प्राप्त अशुद्ध द्रव्यों की परनिमित्तक विभाव पर्याय होती है । इसका विशेष कथन सूत्र १६ के विशेषार्थ में है।

द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है । अर्थात् द्रव्य में प्रतिसमय पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है । यही द्रव्य का परिणमन है । सिद्धजीव, पुद्गल परमाणु, धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य और काल-द्रव्य इनमें स्वभाव परिणमन होने से स्वभाव पर्यायें होती हैं । संसारी-जीव और पुद्गल-स्कंध अशुद्ध द्रव्य है इनमें विभाव पर्याय होती हैं ।

॥ इस प्रकार पर्याय को व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

स्वभाव-व्युत्पत्ति अधिकार

+ अस्ति-स्वभाव -

स्वभावलाभादच्युतत्वादस्तिस्वभावः ॥१०६॥

अन्वयार्थ : जिस द्रव्य को जो स्वभाव प्राप्त है उससे कभी भी च्युत नहीं होना अस्ति-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जीव का चेतन स्वभाव है । चेतन स्वभाव से कभी च्युत नहीं होना जीव का अस्ति-स्वभाव है । यदि जीव चेतन-स्वभाव से च्युत हो जावे तो जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा ।

स्व का होना या स्व के द्वारा होना स्वभाव है । लाभ का अर्थ व्याप्ति है ।

+ नास्ति-स्वभाव -

परस्वरूपेणाभावान्नास्तिस्वभावः ॥१०७॥

अन्वयार्थ : पर-स्वरूप नहीं होना नास्ति स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

परस्वरूपेणाभावत्वान्नास्तिस्वभावं । (सं.न.च.६१)

अर्थ – पर-स्वरूप की अपेक्षा अभाव होने से नास्ति-स्वभाव है ।

सूत्र में 'अभावात्' शब्द का अर्थ अभवनात् है ।

+ नित्य-स्वभाव -

निज-निज-नानापर्यायेषु तदेवेदमिति द्रव्यस्योपलम्भान्नित्यस्वभावः ॥१०८॥

अन्वयार्थ : अपनी अपनी नाना पर्यायों में 'यह वही है' इस प्रकार द्रव्य की प्राप्ति 'नित्य-स्वभाव' है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

ध्रुवत्व अंश की अपेक्षा से अथवा सामान्य अंश की अपेक्षा से द्रव्य नित्य स्वभावी है जो द्रव्यार्थिक नय का विषय है । अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नित्य है ।

+ अनित्य-स्वभाव -

तस्याप्यनेकपर्यायपरिणामितत्वादनित्यस्वभावः ॥१०९॥

अन्वयार्थ : उस द्रव्य का अनेक पर्यायरूप परिणत होने से अनित्य स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

प्रतिसमय उत्पाद व्यय की दृष्टि से द्रव्य परिणमनशील होने अथवा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य अनित्य-स्वभावी है । प्रमाण की अपेक्षा द्रव्य नित्यानित्यात्मक है ।

+ एक-स्वभाव -

स्वभावानामेकाधारत्वादेकस्वभावः ॥११०॥

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण स्वभावों का एक आधार होने से एक स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

अनेक गुणों, पर्यायों और स्वभावों का एक द्रव्य सामान्य आधार होने से द्रव्य एक स्वभावी है ।

सामान्यरूपेणैकत्वमिति । (सं.न.च.६५)

अर्थ – सामान्य की अपेक्षा एक स्वभाव है ।

+ अनेक-स्वभाव -

एकस्याप्यनेकस्वभावोपलम्भादनेक स्वभावः ॥१११॥

अन्वयार्थ : एक ही द्रव्य के अनेक स्वभावों की उपलब्धि होने से अनेक-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

एक ही द्रव्य गुणों, पर्यायों और स्वभावों का आधार है । यद्यपि आधार एक है किन्तु आधेय अनेक हैं । अतः आधेय की अपेक्षा से अथवा विशेषों की अपेक्षा से द्रव्य अनेक स्वभावी है ।

स्यादनेक इति विशेषरूपेणैव कुर्यात् । (सं.न.च.६५)

अर्थ – विशेष की अपेक्षा अनेक स्वभाव है ।

+ भेद-स्वभाव -

गुणगुण्यादिसंज्ञादिभेदाद् भेदस्वभावः ॥११२॥

अन्वयार्थ : गुण गुणी आदि में संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भेद होने से भेद-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

- गुण और गुणी दोनों पृथक् पृथक् संज्ञा हैं अतः संज्ञा की अपेक्षा गुण और गुणी में भेद है ।
- गुण अनेक हैं और गुणी एक है अतः संख्या की अपेक्षा भी गुण और गुणी में भेद है ।

- द्रव्य का लक्षण सत् है और गुण का लक्षण है 'द्रव्याश्रया निगुर्णा गुणाः' (जो द्रव्य के आश्रय और अन्य गुणों से रहित है वह गुण है) अतः दोनों का पृथक् पृथक् लक्षण होने से गुण और गुणी में लक्षण की अपेक्षा भी भेद है ।
- द्रव्य के द्वारा लोक का मान किया जाता है और गुण के द्वारा द्रव्य जाना जाता है, इस प्रकार गुण गुणी का पृथक्-पृथक् प्रयोजन होने से गुण और गुणी में प्रयोजन की अपेक्षा से भी भेद है ।

जैसे --

- जीव द्रव्य में गुणी की संज्ञा 'जीव' है और गुण की संज्ञा 'ज्ञान' है ।
- जो इन्द्रिय, बल, आयु, प्राणापान इन चार प्राणों के द्वारा जीता है, जीता था और जीवेगा; यह जीव द्रव्य-गुणी की लक्षण है । जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाय वह ज्ञान है, यह ज्ञान का लक्षण है ।
- जीव द्रव्य-गुणी अविनश्वर रहते हुये भी बंध, मोक्ष आदि पर्याय रूप परिणमन करता है यह जीव गुणी का प्रयोजन है । मात्र पदार्थ को जानना ज्ञान-गुण का प्रयोजन है ।

इस प्रकार गुण-गुणी में पर्याय-पर्यायी आदि में संज्ञादि की अपेक्षा भेद होने से द्रव्य में भेद स्वभाव है ।

सद्भूतव्यवहारेण भेद इति । (सं.न.च.६५)

अर्थात् सद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा भेद स्वभाव है ।

+ अभेद-स्वभाव -

गुणगुण्याद्यकेस्वभावादभेदस्वभावः ॥११३॥

अन्वयार्थ : गुण और गुणी का एक स्वभाव होने से अभेद स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में एक अखण्ड द्रव्य है उसमें गुणों की कल्पना नहीं है । समयसार गाथा ७ में श्री कुंदकुंद आचार्य ने कहा है कि व्यवहारनय से जीव में दर्शन, ज्ञान, चारित्र है किन्तु निश्चयनय से न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है । द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव में दर्शन, ज्ञान, चारित्र ऐसा भेद नहीं है ।

स्यादभेद इति द्रव्यार्थिकेनैव कुर्यात् । (सं.न.च.६५)

अर्थ – द्रव्यार्थिक नय से ही अभेद स्वभाव है ।

गुणपज्जयदो दव्वं दव्वादो ण गुणपज्जर्याभण्णा ।
जद्या तह्या भणियं दव्व गुणपज्जयनण्णं ॥प्रा.न.च.४२॥

अर्थ – गुण, पर्याय से द्रव्य और द्रव्य से गुण, पर्याय भिन्न नहीं हैं अर्थात् प्रदेशभेद नहीं है इस लिए गुण, पर्याय से द्रव्य को अनन्य कहा है अर्थात् गुण गुणी में अभेद स्वभाव कहा है ।

+ भव्य-स्वभाव -

भाविकाले परस्वरूपाकार भवनाद् भव्यस्वभावः ॥११४॥

अन्वयार्थ : भाविकाल में पर (आगामी पर्याय) स्वरूप होने से भव्य स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

'पर' शब्द के अनेक अर्थ हैं किन्तु इस सूत्र में भाविकाल की दृष्टि से 'पर' का अर्थ 'आगे' होगा ।

द्रव्यस्य सर्वदा अभूतपर्यायैः भाव्यमिति । (पं.का.३७.टी)

अर्थ – द्रव्य सर्वदा अभूत (भावि) पर्यायों से भाव्य है । अर्थात् भावि पर्याय रूप होने योग्य है अतः द्रव्य में भव्य भाव है ।

भवितु परिणमितुं योग्यातं तु भव्यत्वं, तेन विशिष्टत्वाद् भव्याः । (प्रा.न.च.३८)

अर्थ – होने योग्य अथवा परिणमन करने योग्य वह भव्यत्व है । उस भव्यत्व भाव से विशिष्ट द्रव्य भव्य है ।

यद्यपि सूत्र में 'परस्वरूपाकार' है किन्तु संस्कृत नयचक्र में 'स्वस्वभाव' पाठ है । क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव रूप परिणमन करने योग्य है इसलिए प्रत्येक द्रव्य में भव्य स्वभाव है ।

प्राकृत नयचक्र/४० पर भी कहा है कि भव्य स्वभाव के स्वीकार न करने पर सर्वथा एकान्त से अभव्य भाव मानने पर शून्यता का प्रसंग आ जायगा क्योंकि अपने स्वरूप से भी अभवन अर्थात् नहीं होगा ।

अतः संस्कृतनयचक्रानुसार इस सूत्र का पाठ निम्न प्रकार होना चाहिये -- 'भाविकाले स्वस्वभावभवनाद् भव्यस्वभावत्वं ।'

+ अभव्य-स्वभाव -

कालत्रयेऽपि परस्वरूपाकाराभवनाद्भव्यस्वभावः ॥११५॥

अन्वयार्थ : क्योंकि त्रिकाल में भी परस्वरूपाकार (दूसरे द्रव्य रूप) नहीं होगा अतः अभव्य-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

अनादि काल से छहों द्रव्य एक क्षेत्रावगाह हो रहे हैं किन्तु किसी द्रव्य के एक प्रदेश का भी अन्य द्रव्यरूप परिणमन नहीं हुआ ।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥प.का.७॥

अर्थ – वे द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य को अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं तथापि सदा अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते ।

विशेषार्थ – जीव और पुद्गल परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं तथा शेष धर्मादि चार द्रव्य कियावान् जीव और पुद्गलों को अवकाश देते हैं तथा धर्मादि निष्क्रिय चार द्रव्य एक क्षेत्र में परस्पर मिलकर रहते हैं तथापि कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता ।

+ परम-स्वभाव -

पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभावः ॥११६॥

अन्वयार्थ : पारिणामिक भाव की प्रधानता से परमस्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

अपने स्वभाव से रहना या होना पारिणामिक भाव है । उस पारिणामिक भाव की मुख्यता से परम-स्वभाव है ।

॥ इस प्रकार से सामान्य स्वभावों का निरूपण हुआ ॥

**प्रदेशादिगुणानां व्युत्पत्तिश्चेत्तनादि विशेषस्वभावानां च व्युत्पत्तिर्निगदिता ॥
११७॥**

अन्वयार्थ : प्रदेश आदि गुणों की व्युत्पत्ति तथा चेतनादि विशेष स्वभावों की व्युत्पत्ति कही गई ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सूत्र ९४ से यहां तक ११ सामान्य-स्वभावों की; चेतन, अचेतन, मूर्त, अमूर्त व प्रदेश -- विशेष स्वभावों की; तथा प्रदेशत्व आदि गुणों की व्युत्पत्ति कही गई ।

+ स्वभाव गुण नहीं -

धर्मापेक्षया स्वभावा गुणा न भवन्ति ॥११८॥

अन्वयार्थ : स्वभाव की अपेक्षा स्वभाव गुण नहीं होते ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

ऐसे भी स्वभाव है जो गुण नहीं हैं । जैसे -- 'नास्तित्व' स्वभाव तो है परन्तु गुण नहीं है । इसी प्रकार एक-स्वभाव, अनेक-स्वभाव, भेद-स्वभाव, अभेद-स्वभाव आदि के विषय में भी जानना चाहिये । गुण और स्वभाव में क्या अन्तर है, इस सम्बन्ध में सूत्र २८ के विशेषार्थ में सविस्तार कथन हो चुका है ।

+ गुण स्वभाव हैं -

स्वद्रव्यचतुष्टयापेक्षया परस्परं गुणाः स्वभावा भवन्ति ॥११९॥

अन्वयार्थ : स्वद्रव्य चतुष्टय अर्थात् स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा परस्पर में गुण स्वभाव हो जाते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

अस्तित्व द्रव्य का गुण है । इस गुण चतुष्टय और द्रव्य का चतुष्टय एक है । इस अस्तित्व गुण के कारण ही द्रव्य व अन्य गुणों का अस्तित्व है । अतः यह अस्तित्व गुण स्वभाव भी हो जाता है । इसी प्रकार अन्य गुणों के विषय में भी यथायोग्य ज्ञान लेना चाहिये ।

+ गुण द्रव्य हैं -

द्रव्याण्यपि भवन्ति ॥१२०॥

अन्वयार्थ : स्वद्रव्य आदि चतुष्टय की अपेक्षा गुण द्रव्य भी हो जाते हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

द्रव्य का चतुष्टय और गुण का चतुष्टय एक है । अतः गुण द्रव्य भी हो जाते हैं । जैसे -- चेतन-द्रव्य, अचेतन-द्रव्य, मूर्त-द्रव्य, अमूर्त-द्रव्य इत्यादि ।

अब क्रम-प्राप्त विभाव-स्वभाव की व्युत्पत्ति --

+ विभाव -

स्वभावादन्यथाभवनं विभावः ॥१२१॥

अन्वयार्थ : स्वभाव से अन्यथा होने को, विपरीत होने को विभाव कहते हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जीव का स्वभाव क्षमा है । क्षमा से विपरीत क्रोध रूप होना विभाव है ।

+ शुद्ध-अशुद्ध स्वभाव -

शुद्धं केवलभावमशुद्धं तस्यापि विपरीतम् ॥१२२॥

अन्वयार्थ : केवलभाव (खालिस, अमिश्रित भाव) शुद्ध-स्वभाव है । इस शुद्ध के विपरीत भाव अर्थात् मिश्रित-भाव अशुद्ध-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जो द्रव्य अबद्ध है अर्थात् दूसरे द्रव्यों से बंधा हुआ नहीं है, वह द्रव्य शुद्ध है और उसके जो भाव हैं वे भी शुद्ध हैं । किन्तु जो द्रव्य अन्य द्रव्यों से बंधा हुआ है वह अशुद्ध है । उस अशुद्ध द्रव्य के जो भाव हैं वे भी अशुद्ध हैं । क्योंकि 'उपादानकारण सदृशं कार्य भवतीति' अर्थात् उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है । इसी बात को श्री कुंदकुंद आचार्य दृष्टांत द्वारा बतलाते हैं ।

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलाद्यो भावा ।

अयमयया आवादो जह जायंते तु कडयादी ॥ (स.सा.९०)

अर्थ – सुवर्णमय द्रव्य से सुवर्णमय कुंडलादि भाव होते हैं और लोहमय द्रव्य से लोहमयी कड़े इत्यादिक भाव होते हैं ।

+ उपचरित-स्वभाव -

स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावः ॥१२३॥

अन्वयार्थ : स्वभाव का भी अन्यत्र उपचार करना उपचरित-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

एकेन्द्रिय जीव, द्वीन्द्रिय जीव तथा पर्याप्त जीव, अपर्याप्त जीव इत्यादि कहना उपचरित-स्वभाव हैं, क्योंकि ये भाव पुद्गलमयी नाम-कर्म की प्रकृतियों के हैं ।

+ उपचरित-स्वभाव के भेद -

स द्वेधा-कर्मजस्वाभाविकभेदात् । यथा जीवस्य मूर्तत्वमचैतन्यत्वं, यथा सिद्धानां परज्ञता परदर्शकत्वं च ॥१२४॥

अन्वयार्थ : वह उपचरितस्वभाव कर्मज और स्वाभाविक के भेद से दो प्रकार का है । जैसे -- जीव के मूर्तत्व और अचेतनत्व कर्मज-उपचरितस्वभाव है । तथा जैसे -- सिद्ध

आत्माओं के पर का जाननपना तथा पर का दर्शकत्व स्वाभाविक-उपचरित-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जीव का लक्षण यद्यपि अमूर्तत्व और चेतनत्व है तथापि कर्म-बन्ध से एकत्व हो जाने के कारण जीव मूर्तभाव को प्राप्त हो जाता है । सूत्र १०३ के विशेषार्थ में तथा सूत्र २९ के विशेषार्थ में इसका विशद व्याख्यान है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मोदय से जीव में अज्ञान (अचेतन) औदयिक भाव है । अतः जीव में मूर्तत्व और अचेतनत्व कर्मज-औपचारिकभाव हैं । विशेष कथन सूत्र २९ के विशेषार्थ में है ।

सिद्ध भगवान् नियम से आत्मज्ञ हैं उनमें सर्वज्ञता उपचार से है अर्थात् औपचारिक भाव है । श्री कुंदकुंद आचार्य ने कहा भी है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवलो भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥नि.सा.१५९॥

अर्थ – केवली भगवान् सर्व पदार्थों को जानते देखते हैं -- यह कथन व्यवहारनय (उपचरितनय) से है परन्तु केवलज्ञानी नियम से अपनी आत्मा को ही जानते और देखते हैं ।

+ अन्य द्रव्यों में भी उपचरित-स्वभाव -

एवमितरेषां द्रव्याणामुपचारो यथासंभवो ज्ञेयः ॥१२५॥

अन्वयार्थ : इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी यथासम्भव उपचरित-स्वभाव जानना चाहिये ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य और काल-द्रव्य इन चार में उपचरित स्वभाव नहीं है (सूत्र ३० व ३१) । मात्र जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में उपचरित-स्वभाव होता है ।

॥ इस प्रकार विशेष स्वभावों का निरूपण हुआ ॥

+ प्रश्न -

तत्कथं? ॥१२६॥

अन्वयार्थ : वह किस प्रकार ?

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

दुर्नयैकान्तमारूढा भावानां स्वार्थिका हि ते ।
स्वार्थिकाश्च विपर्यस्ताः सकलक्लङ्गा नया यतः ॥८॥

अर्थ – जो नय पदार्थों के दुर्नयरूप एकान्त पर आरूढ हैं, परस्पर विरूद्ध प्रतीत होने वाले नित्य, अनित्य आदि उभय धर्मों में से एक को मान कर दूसरे का सर्वथा निषेध करते हैं, वे स्वार्थिक हैं अर्थात् स्वेच्छा-प्रवृत्त हैं । स्वार्थिक होने से वे नय विपरीत हैं, क्योंकि वे दूषित नय अर्थात् नयाभास हैं ।

विशेषार्थ – संस्कृत नयचक्र में इस गाथा का पाठ निम्न प्रकार है-

दुर्नयैकान्तमारूढा भावा न स्वार्थिकाहिता ।
स्वार्थिकास्तद् विपर्यस्ता निःकलंकास्तथा यतः ॥ (सं.न.च.६१)

अर्थ – दुर्नय एकान्त को लिये हुए भाव सम्यगर्थ वाले नहीं होते हैं । जो नय एकान्त से रहित भाव वाले हैं वे समीचीन अर्थ को बतलाने वाले हैं ।

एकान्त-पक्ष दोष

+ उत्तर -

तथा हि - सर्वथैकान्तेन सद्रूपस्य न नियतार्थव्यवस्था, संकरादिदोषत्वात् ॥
१२७ ॥

अन्वयार्थ : संकरादि दोषों से दूषित होने के कारण सर्वथा एकान्त के मानने पर सद्रूप पदार्थ की नियत अर्थव्यवस्था नहीं हो सकती है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

१. संकर, २. व्यतिकर, ३. विरोध, ४. वैयाधिकरण, ५. अनवस्था, ६. संशय, ७. अप्रतिपत्ति, ८. अभव, ये संकरादि आठ दोष हैं ।

1. संकर - सर्व वस्तुओं का परस्पर मिलकर एक वस्तु हो जाना ।
2. व्यतिकर - जिस वस्तु की किसी भी प्रकार से स्थिति न हो, वह व्यतिकर दोष है ।
जैसे -- 'चक्षु से सुना' यह व्यतिकर दोष है ।
3. विरोध - जड़ का चेतन हो जाना और चेतन का जड़ होना । जड़ और चेतन में परस्पर विरोध है ।

4. वैयाधिकरण - एक समय में अनेक वस्तुओं में विषम अर्थात् परस्पर विरुद्ध पर्यायें रह सकती हैं । जैसे -- शीत व उष्ण पर्यायें भिन्न-भिन्न वस्तुओं में तो रह सकती हैं, यथा-जल में शीतलता और अग्नि में उष्णता । किन्तु इन दोनों परस्पर विरुद्ध अर्थात् विषम पर्यायों को एक ही समय में एक के आधार कहना वैयाधिकरण दोष है ।
5. अनवस्था - एक से दूसरे की, दूसरे से तीसरे की और तीसरे से चौथे की उत्पत्ति- इस प्रकार कहीं पर भी ठहरात नहीं होना जैसे- ईश्वर-कर्तृत्व में अनवस्था दोष आता है, क्योंकि संसार का कर्ता ईश्वर है, ईश्वर का कर्ता अन्य है और उस अन्य का कर्ता दूसरा है । इस प्रकार कल्पनाओं का कहीं विराम न होना अनवस्था दोष है ।
6. संशय - वर्तमान में निश्चय न कर सकना संशय है । अथवा, विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करने वाले विकल्प को संशय कहते हैं । जैसे -- यह सीप है या चांदी ।
7. अप्रतिपत्ति - वस्तु-स्वरूप की अज्ञानता अप्रतिपत्ति है ।
8. अभाव - जिस वस्तु का सर्वथा अभाव हो उसको कहना अभाव दोष है । जैसे -- गधे के सींग ।

+ सर्वथा असद्रूप मानने में दोष -

तथा असद्रूपस्य सकलशून्यताप्रसंगात् ॥१२८॥

अन्वयार्थ : यदि सर्वथा एकान्त से असद्रूप माना जाय तो सकल-शून्यता का प्रसंग आ आयगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सर्वथा असद्-रूप मानने पर सम्पूर्ण पदार्थ असदात्मक हो जायेंगे, क्योंकि स्वरूप से भी अभाव मानना पड़ेगा । अतः कोई भी वस्तु सद्-रूप न रहने से सकल-शून्यता हो जायेगी ।

+ सर्वथा नित्य मानने में दोष -

नित्यस्यैकरूपत्वादेकरूपस्यार्थक्रियाकारिताभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१२९॥

अन्वयार्थ : सर्वथा नित्यरूप मानने पर पदार्थ एकरूप हो जायगा । एकरूप होने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायेगा और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में पदार्थ का ही अभाव हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

जिस वस्तु से किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती अर्थात् जिसमें अर्थक्रियाकारिपना नहीं है, वह वस्तु नहीं है । अर्थक्रियाकारिपना वस्तु का धर्म है, क्योंकि उससे उत्तर पर्याय की सिद्धि होती है ।

+ सर्वथा अनित्य मानने में दोष -

अनित्यपक्षेऽपि निरन्वयत्वादर्थक्रियाकारित्वाभावः । अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१३०॥

अन्वयार्थ : सर्वथा अनित्य पक्ष में भी निरन्वय अर्थात् निर्द्रव्यत्व होने से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायेगा और अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होने से द्रव्य का भी अभाव हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

पर्याय अनित्य है और द्रव्य नित्य है । सर्वथा अनित्य मानने पर नित्यता के अभाव का प्रसंग आ जायगा अर्थात् पर्यायों में अन्वयरूप से रहने वाले द्रव्य का अभाव हो जायगा । और अन्वयरूप द्रव्य के अभाव में पर्यायों का भी अभाव हो जायगा ।

+ सर्वथा एक में दोष -

एकस्वरूपस्यैकान्तेन विशेषाभावः सर्वथैकरूपत्वात् । विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावः ॥१३१॥

अन्वयार्थ : एकान्त से एक-स्वरूप मानने पर सर्वथा एकरूपता होने से विशेष का अभाव हो जायगा और विशेष का अभाव होने पर सामान्य का भी अभाव हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सूत्र ९५ में सामान्य और विशेषात्मक वस्तु बतलाई है । विशेष का अर्थ पर्याय है । जैसे - शवक, छत्रक, स्याश, कोश, कुशूल, घट आदि पर्यायों । इन पर्यायों में अन्वयरूप से रहने वाला द्रव्य 'सामान्य' है । जैसे -- शवक आदि पर्यायों में रहने वाली मिट्टी । द्रव्य बिना पर्याय नहीं होती और पर्याय बिना द्रव्य नहीं होता । श्री कुंदकुंद आचार्य ने कहा भी है --

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवित्ति ॥पं.का.९२॥

अर्थ – पर्याय (विशेष) से रहित द्रव्य (सामान्य) और द्रव्य (सामान्य) से रहित पर्यायों (विशेष) नहीं होतीं । दोनों का अनन्यपना है, ऐसा श्रमण प्ररूपित करते हैं ।

अतः सर्वथा एकान्त से सामान्य मानने पर विशेष का अभाव हो जाने पर सामान्य का भी अभाव हो जायेगा क्योंकि दोनों के अनन्यपना है ।

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् ।
सामान्यरहित्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि इति ज्ञेयः ॥९॥

अर्थ – विशेष रहित सामान्य निश्चय से गधे के सींग के समान है और सामान्य से रहित होने के कारण विशेष भी गधे के सींग के समान है अर्थात् अवस्तु है । ऐसा जानना चाहिये ।

+ सर्वथा अनेक में दोष -

अनेकपक्षेऽपि तथा द्रव्याभावः निराधारत्वात् आधाराधेयाभावाच्च ॥१३२॥

अन्वयार्थ : सर्वथा अनेक पक्ष में भी पदार्थों (पर्यायों) का निराधार होने से तथा आधार-आधेय का अभाव होने से द्रव्य का अभाव हो जायेगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सामान्य आधार है और विशेष (पर्यायों) आधेय हैं । यदि केवल विशेषरूप अर्थात् अनेकरूप ही माना जाय तो विशेष (पर्यायों) का आधार जो सामान्य, उसका अभाव हो जाने से विशेष निराधार रह जायेंगे और आधार-आधेय सम्बन्ध का भी अभाव हो जायेगा । सामान्य रूप आधार के अभाव में विशेषरूप आधेयों का भी अभाव हो जायेगा । इस प्रकार द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा ।

+ सर्वथा भेद में दोष -

भेदपक्षेऽपि विशेषस्वभावानां निराधारत्वादर्थक्रियाकारित्वाभावः ।

अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१३३॥

अन्वयार्थ : गुण-गुणी और पर्याय-पर्यायी के सर्वथा भेद पक्ष में विशेष स्वभाव अर्थात् गुण और पर्यायों के निराधार हो जाने से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायेगा और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

गुण और गुणी का सर्वथा भेद मानने पर तथा पर्याय और पर्यायी का सर्वथा भेद मानने पर अर्थात् प्रदेश अपेक्षा भी भेद मानने पर गुण और गुणी दोनों की भिन्न-भिन्न सत्ता हो जायेगी तथा पर्याय और पर्यायी की भी भिन्न-भिन्न सत्ता हो जायेगी । भिन्न-भिन्न सत्ता हो जाने से गुण और पर्याय निराधार हो जायेंगे अर्थात् द्रव्य के आधार नहीं रहेंगे । गुण और पर्यायरूप विशेष स्वभावों के निराधार हो जाने से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो

जायेगा । अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जाने से द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है --

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात् । यथा सुवर्णात्पृथग्भूतं तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलादिकत्वमिति वा । (प्र.सा.११०.टी)

अर्थ – निश्चय नय से द्रव्य से पृथग्भूत कोई भी गुण या पर्याय नहीं होती । जैसे -- सुवर्ण का पीलापन गुण तथा कुण्डलादि पर्यायें सुवर्ण से पृथग्भूत नहीं होतीं ।

+ सर्वथा अभेद में दोष -

**अभेदपक्षेऽपि (सर्वथा) सर्वेषामेकत्वम् । सर्वेषामेकत्वेऽर्थक्रियाकारित्वाभावः ।
अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१३४॥**

अन्वयार्थ : सर्वथा अभेद पक्ष में गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी सम्पूर्ण पदार्थ एकरूप हो जायेंगे । सम्पूर्ण पदार्थों के एकरूप हो जाने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

प्रवचनसार टीका में जयसेन आचार्य ने कहा है -

यदि पुरनेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तद । ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्तः सुखादिघर्माणामवकाशो नास्ति । तथा सुखवीर्यादि-धर्मसमूहाभावादात्माऽभावः आत्मन आधारभूतस्याभावादाधेय-भूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभावः, इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभावः । (प्र.सा.२७.टी)

अर्थ – यदि एकान्त से ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कहा जाय तब ज्ञानगुण मात्र ही आत्मा प्राप्त होगा, फिर सुख आदि स्वभावों का अवकाश नहीं रहेगा तथा सुख, वीर्य आदि स्वभावों के समुदाय का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जायेगा । जब आधारभूत आत्मा का अभाव हो गया, तब उसका आधेयभूत ज्ञानगुण का भी अभाव हो गया । इस तरह अभेद एकान्त मत में ज्ञानगुण और आत्म-द्रव्य दोनों का ही अभाव हो जायगा ।

+ सर्वथा भव्य में दोष -

**भव्यस्यैकान्तेन पारिणामिकत्वाद्द्रव्यस्य द्रव्यान्तरत्वप्रसंगात् ।
संकरादिदोषप्रसंगात् ॥१३५॥**

अन्वयार्थ : एकान्त से सर्वथा भव्य स्वभाव के मानने पर द्रव्य के द्रव्यान्तर का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि द्रव्य परिणामी होने के कारण पर-द्रव्यरूप भी परिणाम जायगा । इस प्रकार संकर आदि दोष सम्भव हैं ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

द्रव्य परिणामी है, यदि उसमें एकान्त से भव्य स्वभाव ही माना जाय, अभव्य स्वभाव स्वीकार न किया जाय तो द्रव्य द्रव्यांतररूप भी परिणमन कर जायगा, जिससे संकरादि आठ दोष आ जायेंगे । संकर आदि आठ दोषों का कथन सूत्र १२७ के विशेषार्थ में किया जा चुका है ।

+ सर्वथा अभव्य में दोष -

सर्वथाऽभव्यस्यैकान्तेऽपि तथा शून्यताप्रसंगात्, स्वरूपेणाप्यभवनात् ॥१३६॥

अन्वयार्थ : यदि सर्वथा अभव्यस्वभाव माना जाय तो द्रव्य स्वस्वरूप से भी अर्थात् अपनी भाविपर्यायरूप भी नहीं हो सकेगा । जिससे द्रव्य का ही अभाव हो जायगा । तथा द्रव्य के अभाव में सर्व शून्य हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

यदि सर्वथा अभव्य-स्वभाव माना जाय तो द्रव्य स्व-स्वरूप से भी अर्थात् अपनी भावि-पर्यायरूप भी नहीं हो सकेगा । जिससे द्रव्य का ही अभाव हो जायगा । तथा द्रव्य के अभाव में सर्व शून्य हो जायगा ।

+ सर्वथा स्वभाव में दोष -

स्वभावस्वरूपस्यैकान्तेन संसाराभावः ॥१३७॥

अन्वयार्थ : एकान्त से सर्वथा स्वभावस्वरूप माना जाय तो संसार का ही अभाव हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

संसार विभाव-स्वरूप है । स्वभाव के एकान्त-पक्ष में विभाव को अवकाश नहीं । अतः विभाव-निरपेक्ष सर्वथा स्वभाव के मानने पर संसार का अभाव हो जायगा ।

+ सर्वथा विभाव में दोष -

विभावपक्षेऽपि मोक्षस्याप्यभावः ॥१३८॥

अन्वयार्थ : स्वभाव निरपेक्ष विभाव के मानने पर मोक्ष का भी अभाव हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

स्वभावरूप परिणमन मोक्ष है । एकान्त से सर्वथा विभाव स्वरूप मानने पर स्वभाव का अभाव हो जायगा । स्वभाव के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जायगा ।

सर्वथा चैतन्यमेवेत्युक्तेऽपि सर्वेषां शुद्धज्ञानचैतन्यावाप्तिः स्यात् तथा सति ध्यानं ध्येयं, गुरुशिष्याद्यभावः ॥१३९॥

अन्वयार्थ : सर्वथा चैतन्य पक्ष के मानने से सब जीवों के शुद्ध-ज्ञानरूप चैतन्य की प्राप्ति हो जायेगी । शुद्धज्ञानरूप चैतन्य की प्राप्ति हो जाने पर ध्यान, ध्येय, ज्ञान, ज्ञेय, गुरु, शिष्य आदि का अभाव हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

यदि सर्वथा चैतन्यपक्ष माना जाय तो ज्ञानावरण कर्मोदय जनित अज्ञान का अभाव होने से सम्पूर्ण जीवों के शुद्ध-ज्ञानरूप चैतन्य होने का प्रसंग आ जायगा । शुद्ध-ज्ञानरूप चैतन्य की प्राप्ति का प्रसंग आ जाने से ध्यान, ध्येय आदि का अभाव हो जायगा, क्योंकि शुद्ध-ज्ञानरूप चैतन्य के अभाव में उसकी प्राप्ति के लिये ही ध्यान की आवश्यकता होती है ।

+ सर्वथा में नियामकता दोषपूर्ण -

सर्वथा शुद्धः सर्वप्रकारवाची, अथवा सर्वकालवाची, अथवा सर्वनियमवाची वा, अनेकान्तसापेक्षी वा ? यदि सर्वप्रकारवाची, सर्वकालवाची अनेकानां वागू वा, सर्वादिगणे पठनात्सर्वशब्दः एवंविधः, चेत्, न हि सिद्धान्तः समीहितम् । अथवा नियमवाची वा अनेकान्तसापेक्षी वा । यदि सव-वाची -कालवाची अनेका-सवाल बना सबको पठनान् । ससाद एसंविधशोय सिद्धः ना समीहितसू है अथवा नियमवाची सेकी सकलार्थानां तव प्रतीतिः काई स्यात् ? नित्यः अनित्यः, एकः, अनेकः, भेदः, अभेदः, कथं प्रतीतिः स्यात्, नियमितपक्षत्वात् ? ॥१४०॥

अन्वयार्थ : सर्वथा शब्द सर्वप्रकारवाची है, अथवा सर्वकालवाची है, अथवा नियमवाची है, अथवा अनेकान्तवाची है? यदि सर्व-आदि गण में पाठ होने से सर्वथा शब्द सर्वप्रकार, सर्वकालवाची अथवा अनेकान्तवाची है तो हमारा समीहित अर्थात् इष्टसिद्धान्त सिद्ध हो गया । यदि सर्वथा शब्द नियमवाची है तो फिर नियमित पक्ष होने के कारण सम्पूर्ण अर्थों की अर्थात् नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि रूप सम्पूर्ण पदार्थों की प्रतीति कैसे होगी ? अर्थात् नहीं हो सकेगी ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

अन्य मत वाले सर्वथा शब्द का अर्थ 'नियम' करते हैं । अतः 'सर्वथा' शब्द के प्रयोग को मिथ्या कहा है --

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा ।

जाइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो ॥ (गो.क.८६५)

अर्थ – मिथ्यामतियों का वचन सर्वथा कहने से नियम से मिथ्या अर्थात् असत्य होते हैं और जैनमत के वचन 'कथंचित्' का प्रयोग होने से सम्यक् हैं अर्थात् सत्य हैं ।

+ सर्वथा अचेतन में दोष -

तथा अचेतन्यपक्षेऽपि सकलचैतन्योच्छेदः स्यात् ॥१४१॥

अन्वयार्थ : वैसे ही सर्वथा अचेतन पक्ष के मानने पर सम्पूर्ण चेतन का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि केवल अचेतन ही माना गया है ।

+ सर्वथा मूर्त में दोष -

मूर्तस्यैकान्तेनात्मनः मोक्षस्य नावाप्तिः स्यात् ॥१४२॥

अन्वयार्थ : सर्वथा एकान्त से आत्मा को मूर्त स्वभाव के मानने पर आत्मा को कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि अष्ट कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाने पर सिद्धात्मा अमूर्तिक है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र १०३ व २९ के विशेषार्थ में मूर्त अमूर्त का विशेष कथन है ।

+ सर्वथा अमूर्तिक में दोष -

सर्वथा अमूर्तस्यापि तथाऽऽत्मनः संसारविलोपः स्यात् ॥१४३॥

अन्वयार्थ : आत्मा को सर्वथा अमूर्तिक मानने पर संसार का लोप हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र १०३ व २९ के विशेषार्थ में यह कहा जा चुका है कि अनादि कर्म-बंध के कारण आत्मा मूर्तिक हो रही है और कर्मों से मुक्त होने पर अमूर्तिक हो जाती है । यदि आत्मा को सर्वथा अमूर्तिक माना जायगा तो संसार के अभाव का प्रसंग आयेगा, क्योंकि संसारी आत्मा कर्म-बंध के कारण मूर्तिक है ।

+ सर्वथा एकप्रदेश में दोष -

एकप्रदेशसैकान्तेनाखण्डापरिपूर्णस्यात्मनः अनेकार्यकारित्वे एव हानिः स्यात् ॥१४४॥

अन्वयार्थ : सर्वथा एकप्रदेशस्वभाव के जानने पर स्वखण्डता से परिपूर्ण आत्मा के अनेक कार्यकारित्व का अभाव हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

अनेक प्रदेश का फल अनेक-कार्यकारित्व है । सर्वथा एकान्त से एकप्रदेश-स्वभाव मानने से अनेकप्रदेश-स्वभाव का अभाव हो जायगा जिससे अनेक-कार्यकारित्व की हानि हो जायगी ।

+ सर्वथा अनेक प्रदेशत्व में दोष -

सर्वथा अनेकप्रदेशत्वेऽपि तथा तस्यानर्थकार्यकारित्वं स्वस्वभावशून्यताप्रसंगात्

॥१४५॥

अन्वयार्थ : आत्मा के अनेक प्रदेशत्व मानने पर भी अखण्ड एकप्रदेशस्वरूप-आत्म-स्वभाव के अभाव हो जाने से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

यद्यपि आत्मा बहु-प्रदेशी है तथापि अखण्ड, एक द्रव्य है । यदि अखण्डता की अपेक्षा आत्मा को एक-प्रदेश न माना जाय तो सर्व-प्रदेश बिखर जायेंगे, परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा । अतः अर्थक्रिया-कारित्व का अभाव हो जायगा । 'अर्थक्रियाकारित्व' का अर्थ सूत्र १२९ के विशेषार्थ में देखना चाहिये ।

+ सर्वथा शुद्धस्वभाव में दोष -

शुद्धस्यैकान्तेनात्मनो. न कर्ममल-कलङ्कावलेपः सर्वथा निरंजनत्वात् ॥१४६॥

अन्वयार्थ : सर्वथा एकान्त से शुद्धस्वभाव के मानने पर आत्मा सर्वथा निरंजन हो जायगी । निरंजन हो जाने से कर्ममलरूपी कलङ्क का अवलेप अर्थात् कर्मबंध सम्भव नहीं होगा ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

यदि आत्मा को सर्वथा-शुद्ध माना जाय तो कर्मों से रहित होने के कारण आत्मा के कर्म-बंध नहीं होगा ।

+ सर्वथा अशुद्ध-स्वभाव में दोष -

सर्वथाऽशुद्धैकान्तेऽपि तथाऽत्मनो न कदापि शुद्ध-स्वभाव. प्रसङ्गः स्यात् तन्यमयत्वात् ॥१४७॥

अन्वयार्थ : एकान्त से सर्वथा अशुद्ध स्वभाव के मानने पर अशुद्धमयी हो जाने से आत्मा को कभी भी शुद्धस्वभाव की प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् मोक्ष नहीं होगा ।

+ सर्वथा उपचरित-स्वभाव में दोष -

उपचरितैकान्त पक्षेऽपि. नात्मज्ञता सम्भवति नियमित पात्वात् ॥१४८॥

अन्वयार्थ : उपचरित-स्वभाव के एकान्त पक्ष में भी आत्मज्ञता सम्भव नहीं है, क्योंकि नियत पक्ष है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र १२४ में बतलाया गया कि उपचरित-स्वभाव से परज्ञता है । यदि सर्वथा उपचरित-स्वभाव माना जाय और अनुपचरित-स्वभाव न माना जाय तो आत्मा में परज्ञता ही रहेगी और आत्मज्ञता अनुपचरित-स्वभाव होने से उसके स्वभाव का प्रसंग आ जायगा ।

+ सर्वथा अनुपचरित में दोष -

तथाऽऽत्मनः अनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधः स्यात् ॥१४९॥

अन्वयार्थ : उसी प्रकार अनुपचरित एकान्त पक्ष में भी आत्मा के परज्ञता आदि का विरोध आ जायगा ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

आदि शब्द से पर-दर्शकत्व का भी ग्रहण हो जाता है । परज्ञता और पर-दर्शकत्व, ये उपचरित-स्वभाव हैं (सूत्र १२४) । एकान्त अनुपचरित पक्ष में उपचरित-पक्ष का निषेध होने से आत्मा का परज्ञता और पर-दर्शकत्व से विरोध आ जायगा जिससे सर्वज्ञता के अभाव का प्रसंग आ जायगा ।

॥ इस प्रकार एकान्त पक्ष में दोषों का निरूपण हुआ ॥

नानास्वभावसंयुक्तं द्रव्यं ज्ञात्वा प्रमाणतः ।

तच्च सापेक्षासिद्धयर्थं स्यान्नयमिश्रितं कुरू ॥१०॥

अर्थ – प्रमाण से नाना स्वभाव वाले द्रव्य को ज्ञान करके, सापेक्षासिद्धि के लिये उसको कथंचित् नयों से मिश्रित अर्थात् युक्त करना चाहिये ।

सूत्र ३३ में बतलाया गया है कि द्रव्य आदि का ज्ञान प्रमाण और नय से होता है । सूत्र ३४ में प्रमाण का लक्षण और सूत्र ३९ में नय का लक्षण बतलाया जा चुका है । आगे भी सूत्र १७७ में प्रमाण का स्वरूप और सूत्र १८१ में नय का स्वरूप कहा जायगा । स्यात् (कथंचित्) सापेक्ष नय सम्यग्नय हैं । द्रव्य में सापेक्ष स्वभावों की सिद्धि के लिये स्यात् सापेक्ष नयों का प्रयोग करना चाहिये । गाथा ८ में कहा गया है कि जो नय एकान्त पक्ष को ग्रहण करने वाली हैं अर्थात् 'स्यात्' निरपेक्ष हैं, वे दुर्नय हैं ।

अब आगे किस-किस द्रव्य में किस-किस नय की अपेक्षा कौन-कौन स्वभाव पाया जाता है इसका कथन किया जाता है --

नय योजना

+ अस्तिस्वभाव -

नययोजनाधिकारः. स्वद्रव्यादिग्राहकेणास्ति स्वभावः ॥१५०॥

अन्वयार्थ : स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव अर्थात् स्वचतुष्टय को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अस्तिस्वभाव है । क्योंकि स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिस्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ५४ व १८८ में है ।

+ नास्ति-स्वभाव -

परद्रव्यादिग्राहकेण नास्ति स्वभावः ॥१५१॥

अन्वयार्थ : परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव अर्थात् परचतुष्टय को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नास्तिस्वभाव है, क्योंकि परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिस्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ५५ व १८९ में है ।

+ नित्य-स्वभाव -

उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकेण नित्यस्वभावः ॥१५२॥

अन्वयार्थ : उत्पाद, व्यय को गौण करके ध्रौव्य को ग्रहण करने वाले शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्यस्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ४८ में हो चुका है ।

+ अनित्य-स्वभाव -

केनचित् पर्यायार्थिकनयेन अनित्यस्वभावः ॥१५३॥

अन्वयार्थ : किसी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्यस्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नय का कथन सूत्र ६० में है । इस नय की अपेक्षा अनित्य-स्वभाव है ।

+ एक-स्वभाव -

भेदकल्पनानिरपेक्षेण एकस्वभावः ॥१५४॥

अन्वयार्थ : भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एकस्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

भेदकल्पना-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का स्वरूप सूत्र ४९ में कहा गया है । यह नय गुण-गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है अर्थात् द्रव्य में भेदरूप से गुणों को ग्रहण नहीं करता । जैसा कि समयसार में कहा है --

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो । (स.सा.७)

अर्थात् जीव के न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है, वह तो एक ज्ञायक, शुद्ध है ।

यह कथन भेदकल्पना-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से है ।

+ अनेक-स्वभाव -

अन्वयद्रव्यार्थिकेनैकस्यापि अनेकद्रव्यस्वभावत्वम् ॥१५५॥

अन्वयार्थ : अन्वयद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एक द्रव्य के भी अनेक स्वभाव पाये जाते हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र ५३ व १८७ में अन्वय-सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय का कथन है । वहां पर दृष्टान्त दिया है -- 'यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम्' । अर्थात् द्रव्य गुण-पर्याय स्वभाव वाला है । द्रव्य एक है किन्तु गुण और पर्याय अनेक हैं । अतः इस नय की दृष्टि में एक द्रव्य के अनेक स्वभाव होते हैं । जैसे -- एक ही देवदत्त पुरुष की बाल-वृद्ध अवस्था होती है । अथवा उन अवस्थाओं में एक ही देवदत्त रहता है ।

+ भेद-स्वभाव -

सद्भूतव्यवहारेण गुणगुण्यादिभिः भेदस्वभावः ॥१५६॥

अन्वयार्थ : सद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा गुण-गुणी आदि में भेद-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सद्भूतव्यवहार उपनय का कथन सूत्र २०६ में किया गया है । इस नय का विषय गुण और गुणी में तथा पर्याय-पर्यायी में भेद ग्रहण करना है । अतः इस नय की अपेक्षा गुण और गुणी में तथा पर्याय-पर्यायी में संज्ञा आदि की अपेक्षा भेद है ।

+ अभेद-स्वभाव -

भेदकल्पनानिरपेक्षेण गुणगुण्यादिभिः अभेदस्वभावः ॥१५७॥

अन्वयार्थ : भेदकल्पना-निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा गुण-गुणी आदि में अभेद-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

भेदकल्पना-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ४९ में है । उस सूत्र में कहा है -- 'निजगुणपर्यायस्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम् ।' अर्थात् निज गुण, पर्याय और स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है । अतः इस नय की दृष्टि से गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में तथा स्वभाव-स्वभावी में अभेद है । अर्थात् प्रदेश-भेद नहीं है ।

+ पारिणामिक -

परमभावग्राहकेण भव्याभव्यपारिणामिकस्वभावः ॥१५८॥

अन्वयार्थ : परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भव्य और अभव्य पारिणामिक स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र ११६ में कहा है 'पारिणामिक भाव की मुख्यता से परमस्वभाव है ।' अतः यहाँ पर परमभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भव्यभाव और अभव्यभाव को पारिणामिक भाव कहा गया है ।

सूत्र ५६ के विशेषार्थ में बतलाया गया है कि शुद्ध और अशुद्ध के उपचार से रहित जो नय द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करता है, वह परमभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है । 'ज्ञानस्वरूप आत्मा' यह परमभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है । स्वरूप से परिणमन करना भव्य-स्वभाव और पररूप से परिणमन नहीं करना अभव्य-स्वभाव, ये दोनों स्वभाव शुद्ध और अशुद्ध के उपचार से रहित हैं । अतः भव्य, अभव्य स्वभाव

परमभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है। परमभावग्राहक नय का कथन सूत्र १९० में भी है।

+ जीव का चेतन-स्वभाव -

शुद्धाशुद्धपरमभावग्राहकेण चेतनस्वभावो जीवस्य ॥१५९॥

अन्वयार्थ : शुद्धाशुद्ध-परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव के चेतन-स्वभाव है।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

चेतनस्वभाव जीव का लक्षण है, वह पारिणामिक भाव है। किन्तु छद्मस्थ अवस्था में वह चेतन-स्वभाव अशुद्ध रहता है और परमात्म अवस्था में आवरक कर्म के क्षय हो जाने से शुद्ध हो जाता है। परमभाव-ग्राहक नय की अपेक्षा जीव के चेतन-स्वभाव है ऐसा सूत्र ५६ में कहा गया है। चेतन-स्वभाव शुद्ध-अशुद्ध दो प्रकार का है अतः परमभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक नय को भी शुद्धाशुद्ध-परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय कहा है।

+ पुद्गल का चेतन-स्वभाव -

असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभावः ॥१६०॥

अन्वयार्थ : असद्भूत-व्यवहार उपनय की अपेक्षा कर्म, नोकर्म के भी चेतन-स्वभाव है।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

असद्भूत-व्यवहार नय का कथन सूत्र २०७ में है। असद्भूत-व्यवहार उपनय के तीन भेद हैं। उनमें जो दूसरा भेद 'विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय' है, उसकी अपेक्षा कर्म, नोकर्म के भी चेतन-स्वभाव है। सूत्र ८६ के विशेषार्थ में संस्कृत नयचक्र के आधार पर यह कहा गया है कि शरीर (नोकर्म) को जीव कहना विजात्य-सद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है। श्री राजवार्तिक अ० ५ सूत्र १९ वार्तिक २४ में भी कहा है --

पौरुषेयपरिणामानुरज्जित्वात् कर्मणः स्याच्चैतन्यम् । (रा.वा.५/१९/२४)

अर्थ - पौद्गलिक कर्म पुरुष (जीव) के परिणामों से अनुरंजित होने के कारण कथंचित् चेतन है।

मूलाराधना गाथा ६१९ की टीका में भी इसी प्रकार कहा गया है --

सह चित्तेनात्मना वर्तते इति सचित्तं जीवशरीरत्वेनावस्थितं पुद्गलद्रव्यं ।
(मूलाराधना-६१९)

अर्थ – इस आत्मा के साथ जो पुद्गल-पदार्थ रहता है वह सचित्त है । जीव का शरीर बनकर जो पुद्गल रहता है वह सचित्त है ।

प्राकृत नयचक्र में कहा है --

एइंदियादिदेहा जीवा ववहारदो य जिणदिठ्टा ।

हिंसादिसु जइ पापं सव्वत्थवि किं ण ववहोरा ॥प्रा.न.च.८२/२३४॥

अर्थ – एकेन्द्रिय आदि का शरीर जीव है, ऐसा जिनेन्द्र ने व्यवहार से कहा है । यदि हिंसा आदि में पाप है तो सर्वत्र व्यवहार का प्रयोग क्यों न हो ? अर्थात् व्यवहार सत्य है, उसका सर्वत्र प्रयोग होना चाहिए ।

इस प्रकार कर्म, नोकर्म के भी चेतनस्वभाव है किन्तु वह निजस्वभाव नहीं है। जीव से बंध की अपेक्षा उनमें चेतनस्वभाव है जो विजात्यसद्भूत-व्यवहार उपनय का विषय है ।

+ पुद्गल का अचेतन-स्वभाव -

परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोरचेतनस्वभावः ॥१६१॥

अन्वयार्थ : परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कर्म, नोकर्म के अचेतन स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का स्वरूप का सूत्र ५६ व १९० में कहा गया है । अचेतनत्व पुद्गल द्रव्य का निज-स्वभाव है अतः यह परम-भावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है ।

+ जीव में अचेतन-स्वभाव -

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेणाचेतनस्वभावः ॥१६२॥

अन्वयार्थ : विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा जीव के भी अचेतन-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र २९ के विशेषार्थ में जीव के अचेतनभाव का विशेष कथन है । अचेतनभाव जीव का निजस्वभाव नहीं है । कर्म-बंध के कारण जीव में अचेतनभाव है, अतः यह विजात्यसद्भूत व्यवहार उपनय का विषय है । सूत्र ८६ में विजात्यसद्भूत व्यवहार-उपनय का कथन है । असद्भूतव्यवहार नय का कथन सूत्र २०७ में है ।

+ पुद्गल में मूर्त-स्वभाव -

परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोर्मूर्तस्वभावः ॥१६३॥

अन्वयार्थ : परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कर्म, नोकर्म के मूर्त-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र १९० व ५६ में है । कर्म, नोकर्म पौद्गलिक हैं । मूर्त-स्वभाव पुद्गल का असाधारण गुण है । अतः कर्म, नोकर्म के मूर्त-स्वभाव परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है ।

+ जीव का मूर्त-स्वभाव -

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः ॥१६४॥

अन्वयार्थ : असद्भूतव्यवहार-उपनय की अपेक्षा जीव के भी मूर्तस्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र २०७ में असद्भूत व्यवहारनय का कथन है । सूत्र १०३ व २९ के विशेषार्थ में जीव के मूर्त-स्वभाव के विशेष कथन है और सूत्र ८६ में विजात्यसद्भूत व्यवहार-उपनय का कथन है । कर्म-बंध की अपेक्षा जीव में मूर्त-स्वभाव है जो विजात्यसद्भूत व्यवहारनय का विषय है ।

+ द्रव्यों का अमूर्त-स्वभाव -

परमभावग्राहकेण पुद्गलं विहायेतरेषाममूर्तस्वभावः ॥१६५॥

अन्वयार्थ : परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा पुद्गल के अतिरिक्त जीव-द्रव्य, धर्म-द्रव्य अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य और काल-द्रव्य के अमूर्त-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय का कथन सूत्र ५६ व १९० में है । जीवद्रव्य, धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य और काल-द्रव्य, इन पांच द्रव्यों में अमूर्तत्व निज-स्वभाव है अतः यह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय का विषय है ।

+ पुद्गल का अमूर्त-स्वभाव -

पुद्गलस्योपचारादपि नास्त्यमूर्तत्वम् ॥१६६॥

अन्वयार्थ : पुद्गल के भी उपचार से अमूर्त-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

विजात्यसद्भूत व्यवहार-उपनय का कथन सूत्र ८६ में है । यद्यपि अमूर्तत्व पुद्गल का निजस्वभाव नहीं है तथापि जीव के साथ बंध की अपेक्षा कर्मरूप पुद्गल भी सूत्र १६० में कथित चेतन-स्वभाव के समान अमूर्त-स्वभाव को प्राप्त हो जाता है । अतः यह विजाति-असद्भूत-व्यवहार-उपनय का कथन है ।

+ द्रव्यों का एकप्रदेश-स्वभाव -

परमभावग्राहकेण कालपुद्गलाणूनामेकप्रदेशस्वभावत्वम् ॥१६७॥

अन्वयार्थ : परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा कालाणुद्रव्य और पुद्गल-परमाणु के एकप्रदेश स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र १०० में बतलाया गया है कि पुद्गल-परमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं । अतः पुद्गल परमाणु एकप्रदेश-स्वभावी है । आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु है । अतः कालाणु भी एकप्रदेश है ।

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखद्वाणि ॥वृ.द्र.सं.२२॥

अर्थ – जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों के ढेर के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित है वे कालाणु असंख्यात द्रव्य है ।

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश का एक-एक कालाणु है अतः कालाणु भी एकप्रदेश-स्वभाव वाला है । अतः पुद्गल-परमाणु और कालाणु का एकप्रदेश-स्वभाव परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय का विषय है । परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ५६ व १९० में है ।

+ द्रव्यों का एकप्रदेश-स्वभाव -

भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां चाखण्डत्वादेकप्रदेशस्वभावत्वम् ॥१६८॥

अन्वयार्थ : भेदकल्पना-निरपेक्ष द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य और जीव-द्रव्य के भी एकप्रदेश-स्वभाव है क्योंकि वे अखण्ड हैं ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

भेद-कल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय का कथन सूत्र ७९ में है । प्रदेश और प्रदेशवान् का भेद न करके धर्मादि द्रव्यों को अखण्डरूप से ग्रहण करने पर उनमें बहु-प्रदेशत्व गौण हो जाता है और वे अखण्ड एकरूप से ग्रहण होने पर उनमें एकप्रदेश-स्वभाव सिद्ध हो जाता है जो भेद-कल्पना-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय का विषय है ।

+ द्रव्यों का नानाप्रदेश-स्वभाव -

भेदकल्पनासापेक्षेण चतुर्णामपि नानाप्रदेशस्वभावत्वम् ॥१६९॥

अन्वयार्थ : भेदकल्पना-सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य और जीव-द्रव्य के नानाप्रदेश-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

भेदकल्पनासापेक्ष-अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र ५२ में है । द्रव्य में प्रदेश-खण्ड का भेद किया जाता है तो धर्मादि चार द्रव्यों का बहुप्रदेश-स्वभाव है ।

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥त.सू.५/८॥

आकाशस्यानन्ताः ॥त.सू.५/९॥

अर्थ – धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, एक जीव-द्रव्य के असंख्यातप्रदेश हैं । आकाश के अनन्त प्रदेश हैं ।

बहु-प्रदेश के कारण धर्मादि द्रव्यों की अस्तिकाय संज्ञा है ।

+ कालाणु के नानाप्रदेश-स्वभाव नहीं -

पुद्गलाणोरुपचारतो नानाप्रदेशत्वं, न च कालाणोः स्निग्धरूक्षत्वाभावाद्दन्त्वाच्या ॥१७०॥

अन्वयार्थ : उपचार से पुद्गल-परमाणु के नानाप्रदेश-स्वभाव है किन्तु कालाणु के, उपचार से भी नानाप्रदेश-स्वभाव नहीं है क्योंकि कालाणु में स्निग्ध व रूक्ष गुण का अभाव है तथा वह स्थिर है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने द्रव्यसंग्रह में कहा है --

एयपदेसो वि अणू णाणाखंघप्पेदेसदो हादि ।

बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्ह ॥२६॥

अर्थ – एक प्रदेशी भी पुद्गल-परमाणु स्निग्ध, रूक्ष गुण के कारण बंध होने पर अनेक स्कंधरूप बहुप्रदेशी हो सकता है। इस कारण सर्वज्ञ-देव उपचार से पुद्गल-परमाणु को काय अर्थात् नानाप्रदेश स्वभाव युक्त कहते हैं ।

सूत्र ८५ में बतलाया है कि परमाणु को बहुप्रदेशी कहना स्वजात्यसद्भूत-व्यवहार उपनय का विषय है ।

वृहद्द्रव्यसंग्रह में कालाणु के बहुप्रदेशी न होंगे के सम्बन्ध में निम्न कथन पाया जाता है
--

अत्र मर्त यथा पुद्गलपरमाणोर्द्रव्यरूपेणैकस्यापि द्ववणुकादि-स्कन्धपर्यायरूपेण बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जातं तथा कालाणोरपि द्रव्ये-णैकस्यापि पर्यायेण कायत्वं भवत्विति ? तत्र परिहारः स्निग्धरूक्षहेतु कस्य बन्धस्याभावान्न भवति । तदपि कस्मात् ? स्निग्धरूक्षत्वं पुद्गल-स्यैव धर्मो यतः कारणादिति । (वृ.द्र.सं.२६.टी.)

अर्थ – यदि कोई ऐसी शंका करे कि जैसे द्रव्यरूप से एक भी पुद्गल-परमाणु के द्वि-अणुक आदि स्कन्ध-पर्याय द्वारा बहुप्रदेशरूप कायत्व सिद्ध हुआ है, ऐसे ही द्रव्यरूप से एक होने पर भी कालाणु के पर्याय द्वारा कायत्व सिद्ध होता है ? इसका परिहार करते हैं कि स्निग्ध-रूक्ष गुण के कारण होने वाले बन्ध का काल-द्रव्य में अभाव है इसलिये वह काय नहीं हो सकता । ऐसा भी क्यों ? क्योंकि स्निग्ध तथा रूक्षपना पुद्गल का ही धर्म है । काल में स्निग्धता, रूक्षता नहीं होने से, बंध नहीं होता । अतः कालाणु के उपचार से भी बहु-प्रदेशी-स्वभाव नहीं है ।

+ कालाणु के उपचरित-स्वभाव नहीं -

अणोरमूर्तकालस्यैकविंशतितमो भावो न स्यात् ॥१७१॥

अन्वयार्थ : अमूर्तिक कालाणु के २१ वाँ अर्थात् उपचरित-स्वभाव नहीं है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

कालाणु में उपचरित-स्वभाव नहीं है ऐसा सूत्र ३०-३१ में कहा गया है । जब कालाणु में उपचरित-स्वभाव ही नहीं है तो कालाणु उपचार से बहुप्रदेशी कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । पुद्गल में उपचरित स्वभाव है, अतः पुद्गल परमाणु में उपचार से नानाप्रदेश-स्वभाव भी सम्भव है ।

+ पुद्गल का अमूर्त-स्वभाव -

परोक्षप्रमाणापेक्षयाऽसद्भूतव्यवहारेणापयुपचारेणामूर्तत्वं पुद्गलस्य ॥१७२॥

अन्वयार्थ : परोक्षप्रमाण की अपेक्षा से और असद्भूतव्यवहार उपनय की दृष्टि से पुद्गल के उपचार से अमूर्त स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र १० के विशेषार्थ में बतलाया गया है स्पर्श, रस, गंध, वर्ण को मूर्त कहते हैं । सूत्र ११ के विशेषार्थ में कहते हैं कि जो स्पर्श किया जाय, चखा जाय, सूंघा जाय और देखा जाय, वह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण है । किन्तु पुद्गल-परमाणु स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा स्पर्श नहीं होता, चखा नहीं जाता, सूंघा नहीं जाता, देखा नहीं जाता, परोक्षज्ञान अर्थात् मति-श्रुत

ज्ञान इन्द्रिय निमित्तिक है । अतः सूक्ष्म पुद्गल-परमाणु परोक्षज्ञान अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न होने से अमूर्त है । विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा पुद्गल के उपचार से अमूर्त स्वभाव है जैसा सूत्र १६६ में कहा जा चुका है । सूत्र १६६ की दृष्टि से इस सूत्र की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, इसीलिए संस्कृत नयचक्र में यह सूत्र नहीं है ।

+ स्वभाव विभाव -

शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकेन स्वभावविभावत्वम् ॥१७३॥

अन्वयार्थ : शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य में स्वभाव भाव है और अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव, पुद्गल में विभाव-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र १८५ में शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का कथन है और सूत्र १८६ में अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का कथन है । स्वभाव-भाव शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है । विभाव-भाव अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है । पर से बंध होने पर ही द्रव्य में अशुद्धता आती है । जीव और पुद्गल, ये दो द्रव्य बंध को प्राप्त होते हैं अतः जीव और पुद्गल में ही विभाव भाव है, धर्मादि शेष चार द्रव्यों में विभाव भाव नहीं होता ।

+ शुद्ध-स्वभाव -

शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः ॥१७४॥

अन्वयार्थ : शुद्ध द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा शुद्ध-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

शुद्ध-स्वभाव शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है । शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र १८५ में है ।

+ अशुद्ध-स्वभाव -

अशुद्धद्रव्यार्थिकेनाशुद्धस्वभावः ॥१७५॥

अन्वयार्थ : अशुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अशुद्ध-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

अशुद्ध-स्वभाव अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है । अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का कथन सूत्र १८६ में है ।

+ उपचरित-स्वभाव -

असद्भूतव्यवहारेण उपचरितस्वभावः ॥१७६॥

अन्वयार्थ : असद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा उपचरित-स्वभाव है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

उपचरित-स्वभाव मात्र जीव और पुद्गल में है । शेष द्रव्यों में उपचरित-स्वभाव नहीं है । यह उपचरितभाव असद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है ।

द्रव्याणां तु यथारूपं तल्लोकेऽपि व्यवस्थितम् ।
तथा ज्ञानेन संज्ञातं नयोऽपि हिं तथाविधः ॥११॥

अर्थ – द्रव्यों का जिस प्रकार का स्वरूप है, वह लोक में व्यवस्थित है । ज्ञान से उसी प्रकार जाना जाता है, नय भी उसी प्रकार जानता है ।

प्रमाणनयैरधिगसः ॥त.सू.१/९॥ के अनुसार जिस प्रकार ज्ञान से पदार्थ का बोध होता है उसी प्रकार नय से भी बोध होता है ।

॥ इस प्रकार नययोजनिका का प्ररूपण हुआ ॥

प्रमाण लक्षण

+ प्रमाण -

सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणं, प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम् ॥१७७॥

अन्वयार्थ : सकल वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है । जिस ज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप जाना जाता है, निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान प्रमाण है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सूत्र ३४ में 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' कहा था किन्तु वहां पर सम्यग्ज्ञान का स्वरूप नहीं बतलाया गया था । यहाँ पर प्रमाण का विषय तथा कार्य बतलाया गया है । प्रमाण का विषय सकल वस्तु है अर्थात् वस्तु का पूर्ण अंश है और नय का विषय विकल वस्तु

अथवा वस्तु का एकांश है । अर्थात् सकलादेश प्रमाण और विकलादेश नय है । वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निश्चय करना प्रमाण का कार्य है ।

+ प्रमाण के प्रकार -

तद्वेधा सविकल्पेतरभेदात् ॥१७८॥

अन्वयार्थ : सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सूत्र ३५ में, प्रत्यक्ष और परोक्ष-प्रमाण के ऐसे दो भेद किये गये थे । यहाँ पर सविकल्प और निर्विकल्प की अपेक्षा प्रमाण के दो भेद किये गये हैं । जिस ज्ञान में प्रयत्नपूर्वक, विचारपूर्वक या इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने के लिये उपयोग लगाना पड़े वह सविकल्प है । इससे विपरीत निर्विकल्प है ।

+ सविकल्प ज्ञान और उसके प्रकार -

सविकल्पं मानसं तच्चतुर्विधम् मतिश्रुतायधिमनःपर्यय-रूपम् ॥१७९॥

अन्वयार्थ : मानस अर्थात् विचार या इच्छा सहित ज्ञान सविकल्प ज्ञान है । वह चार प्रकार का है -- १. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनः-पर्ययज्ञान ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का कथन सूत्र ३८ में और अवधि, मनःपर्यय ज्ञान का कथन सूत्र ३६ में हो चुका है । ये चारों ज्ञान विचार-सहित या इच्छा सहित होते हैं इसलिये इनको सविकल्प कहा है । यहाँ पर मन का अर्थ इच्छा या विचार है ।

+ निर्विकल्प-ज्ञान -

निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानम् ॥१८०॥

अन्वयार्थ : मन रहित अथवा विचार या इच्छा रहित ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान है । केवलज्ञान निर्विकल्प है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सूत्र ३७ में केवलज्ञान का कथन है । सूत्र १७९ व १८० में विकल्प का अर्थ मन किया है । यहां मन से अभिप्राय इच्छा या विचार का है । केवलज्ञान इच्छा या विचार रहित होना है, अतः केवलज्ञान को मनोरहित अर्थात् निर्विकल्प कहा गया है ।

॥ इस प्रकार प्रमाण व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

नय का स्वरूप और भेद

+ नय की परिभाषा -

प्रमाणेन वस्तु संगृहीतार्थेकांशो नयः, श्रुतविकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः,
नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नयः ॥

१८१॥

अन्वयार्थ : प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म अर्थात् अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं । अथवा, श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं । ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं । अथवा, जो नाना स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है वह नय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सूत्र ३९ में भी प्रमाण के अवयव को नय कहा है । यहाँ पर नय का लक्षण नाना प्रकार से कहा है। स.सि. में नय का लक्षण इस प्रकार कहा है --

तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य यथा-त्म्यआपण प्रवणः प्रयोगो नयः । (स.सि.१/३३)

अर्थ – अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य-विशेष की यथार्थता के प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं ।

+ नय के प्रकार -

स द्वेधा सविकल्पनिर्विकल्पभेदात् ॥१८२॥

अन्वयार्थ : सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से नय भी दो प्रकार है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

नय दो प्रकार का है दुर्नय और सुनय । सापेक्ष अर्थात् सविकल्प सुनय है और निरपेक्ष, निर्विकल्प दुर्नय है । (का.अ.२६६/१९०)

॥ इस प्रकार नय की व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

निक्षेप की व्युत्पत्ति

+ निक्षेप और उसके प्रकार -

प्रमाणनययोर्निक्षेपणं आरोपणं निक्षेपः, स नामस्थापनादि-भेदेन चतुर्विधः ॥

१८३ ॥

अन्वयार्थ : प्रमाण और नय के विषय में यथायोग्य नाभादिरूप से पदार्थ निक्षेपण करना अर्थात् आरोपण करना निक्षेप है । वह निक्षेप नाम, स्थापना; द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से जीवादि द्रव्यों का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है ।

- संज्ञा के अनुसार गुणरहित वस्तु में व्यवहार के लिये अपनी इच्छानुसार की गई संज्ञा को **नाम-निक्षेप** कहते हैं ।
- काष्ठ-कर्म, पुस्तक-कर्म, चित्र-कर्म और अक्ष-निक्षेप आदि में 'यह वह है' इस प्रकार स्थापित करने को **स्थापना-निक्षेप** कहते हैं ।
- जो गुणों के द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जायगा या गुणों को प्राप्त होगा वह **द्रव्य-निक्षेप** है ।
- वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य **भाव-निक्षेप** है ।

खुलासा इस प्रकार है -- नाम-जीव, स्थापना-जीव, द्रव्य-जीव और भाव-जीव, इस प्रकार जीव पदार्थ का न्यास चार प्रकार से किया जाता है । कहा भी है --

णामजिणा जिणणाम, ठवणजिणा पुण जिणंदपडिमाओ ।
दव्वंजिणा जिणनीवा भावजिणा समवसरणत्था ॥

अर्थ – जिन नाम जिन का नाम-निक्षेप है । जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा जिन की स्थापना-निक्षेप है । जिनेन्द्र का जीव जिन का द्रव्य-निक्षेप है । समवशरण में स्थित जिनेन्द्र जिन का भाव-निक्षेप है ।

नामनिक्षेप

धवल में श्री वीरसेन आचार्य ने इन निक्षेप का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है --

नाम निक्षेप-अन्य निमित्तों की अपेक्षा रहित किसी की 'मंगल' ऐसी संज्ञा करने को नाम-मंगल कहते हैं । नाम-निक्षेप में संज्ञा के चार निमित्त होते हैं -- जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया । उन चार निमित्तों में से

- तद्भव और सादृश्य लक्षण वाले सामान्य को **जाति** कहते हैं ।
- **द्रव्य** निमित्त के दो भेद हैं, संयोग-द्रव्य और समवाय-द्रव्य । उनमें
 - अलग अलग सत्ता रखने वाले द्रव्यों के मेल से जो पैदा हो, उसे संयोग-द्रव्य कहते हैं ।
 - जो द्रव्य में समवेत हो उसे समवाय-द्रव्य कहते हैं ।
- जो पर्यायादिक से परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो, उसे **गुण** कहते हैं ।
- परिस्पन्द को **क्रिया** कहते हैं ।

इन चार प्रकार के निमित्तों में से

- गौ, मनुष्य, घट, पट आदि जाति-निमित्तक नाम हैं ।
- - दण्डी, छत्री इत्यादि संयोग-द्रव्य-निमित्तक नाम हैं क्योंकि स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले दण्ड आदि के संयोग से दण्डी आदि नाम व्यवहार में आते हैं ।
 - गल-गण्ड, काना, कुबड़ा इत्यादि समवाय-द्रव्य-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नाम का उपयोग किया गया है उससे, गले का गण्ड भिन्न सत्ता वाला द्रव्य नहीं है ।
- कृष्ण, रूधिर इत्यादि गुण-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि कृष्ण आदि गुणों के निमित्त से उन गुण वाले द्रव्यों में ये नाम व्यवहार में आते हैं ।
- गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि गाना, नाचना आदि क्रियाओं के निमित्त से गायक, नर्तक आदि नाम व्यवहार में आते हैं ।

इस तरह जाति आदि इन चार निमित्तों को छोड़कर संज्ञा की प्रवृत्ति में अन्य कोई निमित्त नहीं है ।

स्थापना निक्षेप

किसी नाम को धारण करने वाले दूसरे पदार्थ की 'वह यह है' इस प्रकार स्थापना करने को स्थापना-निक्षेप कहते हैं । स्थापना-निक्षेप दो प्रकार का है - सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना । जिस वस्तु की स्थापना की जाती है उसके आकार को धारण करने वाली वस्तु में सद्भाव-स्थापना समझना चाहिये तथा जिस वस्तु की स्थापना की जाती है उसके आकार से रहित वस्तु में असद्भाव स्थापना समझना चाहिये ।

द्रव्य निक्षेप

आगे होने वाली पर्याय को ग्रहण करने के सन्मुख हुए द्रव्य को (उस पर्याय की अपेक्षा) द्रव्यनिक्षेप कहते हैं अथवा वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को द्रव्यनिक्षेप कहते हैं ।

नोट - इसके भेद प्रतिभेदों का विशद कथन ध.१ में है

भाव निक्षेप

वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं ।

नोट - इसके भेदों का विशेष कथन ध.१ में है

॥ इस प्रकार निक्षेप की व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

नय भेद व्युत्पत्ति

+ द्रव्यार्थिक-नय -

द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः ॥१८४॥

अन्वयार्थः : द्रव्य जिसका प्रयोजन (विषय) है वह द्रव्यार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सूत्र ४१ के विशेषार्थ में इसका विशेष कथन है ।

+ शुद्ध-द्रव्यार्थिक-नय -

शुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः ॥१८५॥

अन्वयार्थः : शुद्ध-द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

सूत्र ४७, ४८, ४९ में शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय के भेदों का कथन है । धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल-द्रव्य ये चारों द्रव्य तो नित्य-शुद्ध हैं । कर्म-बंध के कारण संसारी-जीव अशुद्ध है, और कर्म-बंध से मुक्त हो जाने पर सिद्ध-जीव शुद्ध हैं । इसी प्रकार बंध

के कारण द्वि-अणुक आदि स्कंध पुद्गल-द्रव्य अशुद्ध हैं और बंध-रहित पुद्गल-परमाणु शुद्ध-पुद्गल द्रव्य है । कहा भी है --

सिद्धरूपः स्वभावपर्यायः नरनारकादिरूपा विभावपर्यायाः ।शुद्धपरमाणुरूपे-
णवस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः.....द्वयणुकादिस्कंधरूपेण परिणमनं विभावद्रव्यपर्यायाः ।
(पं.का.५.टी.)

अतः शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय के विषय धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल-द्रव्य, सिद्ध जीव-द्रव्य और पुद्गल-परमाणु हैं ।

+ अशुद्ध-द्रव्यार्थिक-नय -

अशुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति अशुद्धद्रव्यार्थिकः ॥१८६॥

अन्वयार्थः : अशुद्ध-द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

द्विअणुक आदि स्कंध रूप अशुद्ध पुद्गल-द्रव्य और नर, नारक आदि संसारी जीवरूप अशुद्ध जीव-द्रव्य इस अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं । सूत्र ५०-५१-५२ में अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के भेदों का कथन है ।

+ अन्वय-द्रव्यार्थिक-नय -

**सामान्यगुणादयोऽन्वयरूपेण द्रव्यं द्रव्यमिति व्यवस्थापयतीति
अन्वयद्रव्यार्थिकः ॥१८७॥**

अन्वयार्थः : जो नय सामान्य गुण, पर्याय, स्वभाव को-यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, इस प्रकार अन्वरूप से द्रव्य की व्यवस्था करता है वह अन्वय-द्रव्यार्थिक-नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

स्वभाव-युक्त भी द्रव्य है, गुण-युक्त भी द्रव्य है, पर्याय-युक्त भी द्रव्य है, ऐसा कहा जाता है । इसलिये द्रव्यत्व के कारण कहीं पर भी जाति नहीं आती तथापि जो नय स्वभाव-विभाव रूप से अस्ति-स्वभाव, नास्ति-स्वभाव, नित्य-स्वभाव इत्यादि अनेक स्वभावों को एक-द्रव्यरूप से प्राप्त करके भिन्न-भिन्न नामों की व्यवस्था करता है, वह अन्वय-द्रव्यार्थिकनय है ।

इस नय का विशद कथन सूत्र ५३ के विशेषार्थ में किया जा चुका है ।

+ स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक-नय -

स्वद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति स्वद्रव्यादिग्राहकः ॥१८८॥

अन्वयार्थः स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव अर्थात् स्वचतुष्टय को ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र ५४ में इसका विशेष कथन हो चुका है ।

+ परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक-नय -

परद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परद्रव्यादिग्राहकः ॥१८९॥

अन्वयार्थः परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परस्वभाव अर्थात् परचतुष्टय को ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इसका विशेष कथन सूत्र ५५ में है ।

+ परमभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक-नय -

परमभावग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परमभावग्राहकः ॥१९०॥

अन्वयार्थः परमभाव ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह परमभाव-ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इस नय का विशेष कथन सूत्र ५६ में है ।

॥ इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय की व्युत्पत्ति का कथन हुआ ॥

+ पर्यायार्थिक-नय -

पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिक ॥१९१॥

अन्वयार्थः पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र ४१ के विशेषार्थ में इसका विशेष कथन है ।

+ अनादि-नित्य पर्यायार्थिक-नय -

अनादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येत्यानादिनित्य-पर्यायार्थिकः ॥१९२॥

अन्वयार्थ : अनादि-नित्य पर्याय जिसका प्रयोजन है वह अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

मेरू आदि, पुद्गल द्रव्य की अनादि-नित्य पर्याय है । इस नय का विशेष कथन सूत्र ५८ में है ।

+ सादि-नित्य पर्यायार्थिक-नय -

सादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति सादिनित्यपर्यायार्थिकः ॥१९३॥

अन्वयार्थ : सादि-नित्य पर्याय जिसका प्रयोजन है, वह सादि-नित्य पर्यायार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

जीव की सिद्ध-पर्याय सादि है किन्तु नित्य है । इस नय का विशेष कथन सूत्र ५९ में है ।

+ शुद्ध पर्यायार्थिक-नय -

शुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धपर्यायार्थिकः ॥१९४॥

अन्वयार्थ : शुद्धपर्याय जिसका प्रयोजन है, वह शुद्धपर्यायार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

शुद्ध-द्रव्य की पर्याय शुद्ध होती है । धर्म-द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल-द्रव्य, सिद्ध जीव-द्रव्य और परमाणुरूप पुद्गल-द्रव्य शुद्ध-द्रव्य हैं अतः इनकी पर्यायें भी शुद्ध हैं, जो शुद्ध-पर्यायार्थिक नय का विषय है । शुद्ध-पर्यायार्थिक नय के नित्य, अनित्य की अपेक्षा दो भेद हैं जिनका कथन सूत्र ६२ व ६० में है ।

+ अशुद्ध पर्यायार्थिक-नय -

अशुद्धपर्यायः एवार्थः प्रयोजनमस्येत्यशुद्धपर्यायार्थिकः ॥१९५॥

अन्वयार्थ : अशुद्ध पर्याय जिसका प्रयोजन है, वह अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

पुद्गल की द्वअणुक आदि स्कंध पर्यायें और कर्मोपाधि सहित जीव की नर, नारक आदि पर्यायें अशुद्ध द्रव्य-पर्यायें हैं । इन्हीं की अशुद्ध गुण-पर्यायों सहित ये सब अशुद्ध-पर्यायें इस नय का विषय हैं ।

+ नैगम-नय -

नैकं गच्छतीति निगमः निगमो विकल्पस्तत्र भवो नैगमः ॥१९६॥

अन्वयार्थ : जो एक जो प्राप्त नहीं होता अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है वह निगम है । निगम का अर्थ विकल्प है । जो विकल्प को ग्रहण करे वह नैगम नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इस नय का कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है । इसके भेदों का कथन सूत्र ६४ से ६७ तक है ।

+ संग्रह-नय -

अभेदरूपतया वस्तुजातं संगृह्णातीति संग्रहः ॥१९७॥

अन्वयार्थ : जो नय अभेद रूप से सम्पूर्ण वस्तु समूह को विषय करता है, वह संग्रह नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इस नय का विशेष कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है । इसके भेदों का कथन सूत्र ६८ से ७० तक है ।

+ व्यवहार-नय -

संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तुव्यवहियत इति व्यवहारः ॥१९८॥

अन्वयार्थ : संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थ को भेदरूप से व्यवहार करता है, ग्रहण करता है, वह व्यवहार नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इसका विशेष कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है तथा इस नय के भेदों का कथन सूत्र ७१ व ७२ में है ।

+ ऋजुसूत्र-नय -

ऋजु प्रांजलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः ॥१९९॥

अन्वयार्थ : जो नय ऋजु अर्थात् श्रवक, सरल को सूत्रित अर्थात् ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इसका विशेष कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है तथा भेदों का कथन सूत्र ७३ से ७५ में है ।

+ शब्द-नय -

शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः शब्दनयः ॥२००॥
अन्वयार्थ : जो नय शब्द अर्थात् व्याकरण से प्रकृति और प्रत्यय के द्वारा सिद्ध अर्थात् निष्पन्न शब्द को मुख्यकर विषय करता है वह शब्द नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इस नय का कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में तथा सूत्र ७७ में है ।

+ समभिरूढ-नय -

**परस्परेणाभिरूढाः समभिरूढाः । शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो-नास्तिः । यथा शक्र
इन्द्रः पुरन्दर इत्यादयः समभिरूढाः ॥२०१॥**

अन्वयार्थ : परस्पर में अभिरूढ शब्दों को ग्रहण करने वाला नय समभिरूढ नय है । इस नय के विषय में शब्द-भेद होने पर भी अर्थ-भेद नहीं है । जैसे -- शक्र, इन्द्र, पुरन्दर ये तीनों ही शब्द देवराज के पर्यायवाची होने से देवराज में ही अभिरूढ है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इस नय का विशेष कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है तथा सूत्र ७८ में भी है ।

+ एवंभूत-नय -

एवं क्रियाप्रधानत्वेन भूयत इत्येवंभूतः ॥२०२॥

अन्वयार्थ : जिस नय में वर्तमान क्रिया की प्रधानता होती है, वह एवंभूत नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इसका विशेष कथन सूत्र ४१ के विशेषार्थ में है तथा सूत्र ७९ में भी इस नय का कथन है ।

'चिडिया ग्राम में, वृक्ष में, झाड़ी में, शाखा में, शाखा के एक भाग में, अपने शरीर में तथा कण्ठ में चहचहाती है' - इस दृष्टान्त में कहे गये सात स्थान सूक्ष्म, सूक्ष्म होते गये हैं । इसी प्रकार नैगमादि सात नयों का विषय भी सूक्ष्म, सूक्ष्म होता गया है ।

कं पि णरं द्दट्ठूण य पावजणसमागमं करेमाणं ।
णेगमणण्ण भण्णइ णेरइओ एन्त पुरिसो त्ति ॥१॥
ववहारस्स दु वयणं जइया कोदंड-कंडगयहत्यो ।
भमइ मए मगंतो तइया सो होइ णेरइओ ॥२॥
उज्जुसुदस्स दु वयणं जदश्रा हर ठाइदूण ठाणम्मि ।

आहणदि मए पावो तइया सो होइ णेरइओ ॥३॥
सद्वणयस्स दु वयणं जइया पाणेहि भोइदो जंतू ।
तइया सो णेरइयो हिंसाकम्मेण संजुत्तो ॥४॥
वयणं तु समभिरूढं णारयकम्मरस बंधगो जइया ।
तइया सो णेरइओ णारयकम्मेण संजुत्तो ॥५॥
णिरयगइं संपत्तो जइया अणुहवइ णारयं दुक्खं ।
तइया सो णेरइओ एवंभूदो णक्षो भणदि ॥६॥ (ध.७/२८-२९)

अर्थ – किसी मनुष्य को पापी जीवों का समागम करते हुए देखकर नैगम-नय से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है । (जब वह मनुष्य प्राणिवध करने का विचार कर सामग्री का संग्रह करता है तब वह संग्रह नय से नारकी है ।) जब कोई मनुष्य हाथ में धनुष और बाण लिये मृगों की खोज में भट-कता फिरता है तब वह व्यवहार नय से नारकी कहलाता है । जब आखेट-स्थान पर बैठकर पापी, मृगों पर आघात करता है तब वह ऋजुसूत्र नय से नारकी है । जब जन्तु प्राणों से विमुक्त कर दिया जाय तभी वह आघात करने वाला, हिंसा कर्म से संयुक्त मनुष्य, शब्द नय से नारकी है । जब मनुष्य नारक-कर्म का बंधक होकर नारक-कर्म से संयुक्त हो जाय तब वह समभिरूढ नय से नारकी है । जब वही मनुष्य नारक गति को पहुंच कर नरक के दुःख अनुभव करने लगता है तब वह एवंभूत नय से नारकी है ।

+ द्रव्यार्थिक-नय के भेद -

शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदो ॥२०३॥

अन्वयार्थ : शुद्धनिश्चय नय और अशुद्धनिश्चय नय ये दोनों द्रव्यार्थिक नय के भेद है ।

+ निश्चय-नय -

अभेदानुपचारितया वस्तुनिश्चीयत इति निश्चयः ॥२०४॥

अन्वयार्थ : अभेद और अनुपचारता से जो नय वस्तु का निश्चय करे वह निश्चय नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी का भेद अथवा द्रव्य में पर्याय या गुण-भेद निश्चय-नय का विषय नहीं है, जैसा कि समयसार गाथा ६ व ७ में कहा गया है । अन्य द्रव्य के सम्बन्ध से द्रव्य में उपचरित होने वाले धर्म भी निश्चय-नय का विषय नहीं है । अतः इस निश्चय-नय का विषय, भेद और उपचार की अपेक्षा से रहित अखण्ड द्रव्य है । गाथा ४ में कहा भी गया है कि निश्चय नय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है ।

+ व्यवहार-नय -

भेदोपचारितया वस्तुव्यवहियत इति व्यवहारः ॥२०५॥

अन्वयार्थ : जो नय भेद और उपचार से वस्तु का व्यवहार करता है, वह व्यवहारनय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

गुण-गुणी का भेद करके या पर्याय-पर्यायी का भेद करके जो वस्तु को ग्रहण करता है वह व्यवहारनय है । जैसे -- जीव के ज्ञान, दर्शन आदि गुण तथा नर, नारक आदि पर्यायें । पुद्गल के मूर्तिक गुण को जीव में बतलाना और जीव के चेतन गुण को पुद्गल में बतलाना इस प्रकार उपचार करके वस्तु को ग्रहण करना व्यवहारनय का विषय है । गाथा ४ में कहा गया है कि व्यवहारनय का हेतु पर्यायार्थिक नय है ।

यह भेद सर्वथा असत्य भी नहीं है । यदि इसको सर्वथा असत्य मान लिया जाय तो आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे भेद सम्भव नहीं हैं तथा प्रत्यक्ष के विषयभूत जीव में मनुष्य, तिर्यच आदि पर्यायों की अपेक्षा भेद भी सम्भव नहीं होगा तथा गुण-गुणी आदि में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा भेद सिद्ध नहीं होगा ।

यदि उपचार को सर्वथा असत्य मान लिया जाय तो सिद्ध भगवान के सर्वज्ञता का लोप हो जायगा, जीव में भूतत्व के अभाव में संसार का लोप हो जायगा । ऐसा सूत्र १४३ व १४९ में कहा गया है ।

अतः व्यवहार का विषय भी यथार्थ है ।

+ सदभूत व्यवहार-नय -

गुणगुणिनोः संज्ञादिभेदात् भेदकः सदभूतव्यवहारः ॥२०६॥

अन्वयार्थ : संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन के भेद से जो नय गुण-गुणी में भेद करता है वह सदभूत व्यवहारनय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सूत्र ४४ के विशेषार्थ में इसका विशेष कथन है और भेदों का कथन सूत्र ८१-८२-८३ में है ।

+ असदभूत व्यवहार-नय -

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसदभूतव्यवहारः ॥२०७॥

अन्वयार्थ : अन्यत्र प्रसिद्ध वर्ष (स्वभाव) अन्यत्र समारोप (निक्षेप) करने वाला असदभूत व्यवहारनय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इसका विशेष कथन सूत्र ४४ के विशेषार्थ में है और इसके भेदों का कथन सूत्र ८४ से ८७ तक है ।

+ उपचरित-असद्भूत व्यवहार-नय -

**असद्भूतव्यवहार एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स
उपचरितासद्भूतव्यवहारः ॥२०८॥**

अन्वयार्थ : असद्भूत व्यवहार ही उपचार है, जो नय उपचार से भी उपचार करता है वह उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय का विशेष कथन सूत्र ४४ के विशेषार्थ में है और इसके भेदों का कथन सूत्र ८८ से ९१ तक है ।

+ सद्व्यवहार-नय -

**गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारक-कारकिणोर्भेदः
सद्व्यवहारस्यार्थः ॥२०९॥**

अन्वयार्थ : गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभावी में, कारक-कारकी में भेद करना सद्व्यवहारनय का विषय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इसका विशेष कथन सूत्र ४४ के विशेषार्थ में है तथा भेदों का कथन सूत्र ८१-८२-८३ में है ।

+ असद्भूत व्यवहार-नय -

**१. द्रव्ये द्रव्योपचारः, २. पर्याये पर्यायोपचारः, ३. गुणे गुणोपचारः, ४. द्रव्ये
गुणोपचारः, ५. द्रव्ये पर्यायोपचारः, ६. गुणे द्रव्योपचारः, ७. गुणे पर्यायोपचारः, ८.
पर्याये द्रव्योपचारः, ९. पर्याये गुणोपचार इति नवविधोपचारः
असद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः ॥२१०॥**

अन्वयार्थ : १. द्रव्य में द्रव्य का उपचार, २. पर्याय में पर्याय का उपचार, ३. गुण में गुण का उपचार, ४. द्रव्य में गुण का उपचार, ५. द्रव्य में पर्याय का उपचार, ६. गुण में द्रव्य का उपचार, ७. गुण में पर्याय का उपचार, ८. पर्याय में द्रव्य का उपचार, ९. पर्याय में गुण का उपचार, ऐसे नौ प्रकार का उपचार असद्भूत व्यवहारनय का विषय है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

यद्यपि सूत्र ४४ के विशेषार्थ में इन नौ प्रकार के उपचारों का विशेष कथन है तथापि संस्कृत नयचक्र के/४५ के अनुसार कथन किया जाता है --

1. द्रव्य में जीव द्रव्य का उपचार --

शरीरमपि यो जीवं प्राणिनो वदति स्फुटं ।
असद्भूतो विजातीयो ज्ञातव्यो मुनिवाक्यतः ॥१॥

अर्थ – प्राणी के शरीर को ही जीव कहना -- यहाँ विजाति पुद्गल द्रव्य में विजाति जीव द्रव्य का उपचार किया गया है । यह असद्भूतव्यवहार नय का विषय है ।

2. गुण में गुण का उपचार --

मूर्तमेवमिति ज्ञानं कर्मणा जनितं यतः ।
यदि नैव भवेन्मूर्त मूर्तेन स्खलितं कुतः ॥२॥

अर्थ – मतिज्ञान मूर्तिक है क्योंकि कर्मजनित है। यदि ज्ञान मूर्त न होता तो मूर्त पदार्थ से स्खलित क्यों होता । यह विजातीय गुण में विजातीय गुण का उपचार है जो असद्भूत व्यवहारनय का विषय है ।

3. पर्याय में पर्याय का उपचार --

प्रतिर्बिबं समालोक्य यस्य चित्रादिषु स्थितं ।
तदेव तच्च यो ब्रूयाद्सद्भूतोह्युदाहृतः ॥३॥

अर्थ – किसी के प्रतिर्बिब को देखकर, जिसका वह चित्र हो उसको उस चित्ररूप बतलाना असद्भूतव्यवहार नय का उदाहरण है। यहाँ पर्याय में पर्याय का उपचार है।

4. द्रव्य में गुण का उपचार --

जीवाजीवमपि ज्ञेयं ज्ञानज्ञानस्य गोचरात् ।
उच्यते येन लोकेस्मिन् सोऽसद्भूतो निगद्यते ॥४॥

अर्थ – ज्ञान का विषय होने से जीव-अजीव-ज्ञेय ज्ञान है, लोक में ऐसा कहा जाता है। यह असद्भूतव्यवहार नय है । द्रव्य में गुण का उपचार किया गया है ।

5. द्रव्य में पर्याय का उपचार --

अणुरेकप्रदेशोपि येनानेकप्रदेशकः ।
वाच्यो भवेदसद्भूतो व्यवहारः स भण्यते ॥५॥

अर्थ – जो नय एकप्रदेशी परमाणु को भी बहुप्रदेशी कहता है वह असद्भूत व्यवहारनय है । यहाँ द्रव्य में पर्याय का उपचार किया गया है ।

6. गुण में द्रव्य का उपचार --

स्वजातीयगुणे द्रव्यं स्वजातेरूपचारतः ।
रूपं च द्रव्यमाख्याति श्वेतः प्रसादको यथा ॥६॥

अर्थ – स्वजाति गुण में स्वजाति द्रव्य का उपचार । जैसे-सफेद महल । यहाँ पर रूप गुण में महल द्रव्य का उपचार किया गया है ।

7. गुण में पर्याय का उपचार --

ज्ञानमेव हि पर्यायं पर्याये परिणामिवत् ।
गुणोपचारपर्यायो व्यवहारो वदत्यसौ ॥७॥

अर्थ – पर्याय में परिणमन करने वाले की तरह ज्ञान ही पर्याय है । यह गुण में पर्याय का उपचार है । यह असद्भूत व्यवहार नय का विषय है ।

8. पर्याय में द्रव्य का उपचार --

उपचारो हि पर्याये येन द्रव्यस्य सूच्यते ।
असद्भूतः समाख्यातः स्कंधेपि द्रव्यता यथा ॥८॥

अर्थ – पर्याय में द्रव्य का उपचार । जैसे -- स्कंध भी द्रव्य है । यह भी असद्भूत-व्यवहार नय है ।

9. पर्याय में गुण का उपचार --

यो दृष्ट्वा देहसंस्थानमाचष्टे रूपमुत्तमं ।
व्यवहारो असद्भूतः स्वजातीयसंज्ञकः ॥९॥

अर्थ – पर्याय में गुण का आरोप करना भी असद्भूत व्यवहार है । जैसे -- देह के संस्थान को देखकर यह कहा जाता है कि यह उत्तम रूप है ।

इस प्रकार उपर्युक्त नौ प्रकार का उपचार भी असद्भूत व्यवहार नय का विषय है ।

उपचरित असद्भूत व्यवहार का नय का कथन --

+ उपचार पृथक् नय नहीं -

उपचारः पृथक् नयो नास्तीति न पृथक् कृतः ॥२११॥

अन्वयार्थः उपचार पृथक् नय नहीं है अतः उसके पृथक् रूप से नय नहीं कहा है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

व्यवहार नय के तीन भेद कहे हैं १. सद्भूत व्यवहार, २. असद्भूत व्यवहार, ३. उपचरित असद्भूत व्यवहार । इस तीसरे भेद में उपचार नय का अन्तर्भाव हो जाता है ।

+ उपचार कब ? -

मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्तोपचारः प्रवर्तते ॥२१२॥

अन्वयार्थः मुख्य के अभाव में प्रयोजनवश या निमित्तवश उपचार की प्रवृत्ति होती है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

बिलाव को सिंह कहना । यहाँ पर विलाव और सिंह में सादृश्य सम्बन्ध है अतः सिंहरूप मुख्य के अभाव में सिंह को समझाने के लिये विलाव को सिंह कहा गया है । चूहे और सिंह में सादृश्य सम्बन्ध नहीं है अतः चूहे में सिंह का उपचार नहीं किया जाता है ।

टिप्पण अनुसार - यदि यहाँ कोई प्रश्न करे कि उपचार नय पृथक् क्यों कहा गया, यह तो व्यवहारनय का ही भेद है इसलिये व्यवहारनय का ही कथन करता चाहिये था, तो इसका उत्तर दिया जाता है कि -- उपचार के कथन बिना, किसी भी एक कार्य की सिद्धि नहीं होती । जहाँ पर मुख्य वस्तु का अभाव हो, वहाँ पर प्रयोजन या निमित्त के उपलब्ध होने पर उपचार की प्रवृत्ति की जाती है । वह उपचार भी सम्बन्ध के बिना नहीं होता । इस प्रकार उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की प्रवृत्ति होता है । इसलिये उपचरित नय भिन्न रूप से कहा गया है । सूत्र ४४ के विशेषार्थ में भी इस नय का कथन है । इसके भेदों का कथन सूत्र ८८ से ९१ तक है ।

+ सम्बन्ध के प्रकार -

सोऽपि सम्बन्धोऽविनाभावः, संश्लेषः सम्बन्धः, परिणामपरिणामिसम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्धः, ज्ञानज्ञेयसम्बन्धः, चारित्रचर्यासम्बन्धश्चेत्यादि, सत्यार्थः असत्यार्थः सत्यासत्यार्थ-श्चेत्युपचरितासद्भूतव्यवहारनयस्यार्थः ॥२१३॥

अन्वयार्थः वह सम्बन्ध भी सत्यार्थ अर्थात् स्वजाति पदार्थों में, असत्यार्थ अर्थात् विजाति पदार्थों में तथा सत्यासत्यार्थ अर्थात् स्वजाति-विजाति, उभय पदार्थों में निम्न प्रकार का होता है-१. अविनाभावसम्बन्ध, २. संश्लेष सम्बन्ध, ३. परिणामपरिणामिसम्बन्ध, ४. श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्ध, ५. ज्ञानज्ञेय-सम्बन्ध, ६. चारित्रचर्या सम्बन्ध इत्यादि ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

इस नय का कथन सूत्र ८८ में भी है। इत्यादि से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, स्व-स्वामी सम्बन्ध, वाच्य-वाचक सम्बन्ध, प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध, बन्ध-बन्धक सम्बन्ध, वध्य-घातक सम्बन्ध आदि को भी ग्रहण कर लेना चाहिये। ये सम्बन्ध कथंचित यथार्थ है। यदि इनको यथार्थ न माना जाये तो संसार का, मोक्ष का, मोक्ष-मार्ग का, ज्ञान का और ज्ञेयों का, प्रमाण और प्रमेयों अर्थात् द्रव्यों का भी अभाव हो जायगा। सर्वज्ञ का भी अभाव हो जायगा। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है -

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥त.सू.१/२॥ सर्वद्रव्यपर्यायेषु-केवलस्य ॥१/२९॥
असद्भिदानमनृतम् ॥७/१४॥ अदत्तादानं स्तेयम् ॥७/१५॥ मैथुनमब्रह्म ॥७/१६॥

- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है जो मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है। यदि इन सात तत्त्वों के साथ श्रद्धान-श्रद्धेय सम्बन्ध यथार्थ न माना जाय तो सम्यग्दर्शन के लक्षण का अभाव हो जायगा और लक्षण के अभाव में लक्ष्य रूप सम्यग्दर्शन का अभाव हो जायगा। सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्षमार्ग का भी अभाव हो जायगा।
- यदि बन्ध-बन्धक सम्बन्ध को यथार्थ न माना जाय तो बन्ध-तत्त्व का अभाव हो जायगा। बन्ध के अभाव में संसार व निर्जरा-तत्त्व और मोक्ष-तत्त्व का भी अभाव हो जायगा, क्योंकि बन्ध अवस्था का नाम संसार है, बंधे हुए कर्मों का एक देश झड़ना निर्जरा है, तथा बन्ध से मुक्त होने का नाम मोक्ष है।

मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद् बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम्।

अबन्धे मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः ॥ (वृ.द्र.सं.५७.टी)

अर्थ – यदि जीव मुक्त है, तो पहले इस जीव के बन्ध अवश्य होना चाहिये, यदि बन्ध न हो तो मोक्ष कैसे हो सकता है?

- यदि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध यथार्थ न हो तो 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' यह सूत्र निरर्थक हो जायगा और इस सूत्र के निरर्थक हो जाने पर सर्वज्ञ का अभाव हो जायगा। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के अभाव में पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकेगा और द्रव्यों में से 'प्रमेयत्व' गुण का अभाव हो जायगा। ज्ञेय व प्रमेय के अभाव में ज्ञान व प्रमाण का भी अभाव हो जायगा।
- यदि वाच्य-वाचक सम्बन्ध को यथार्थ न माना जावे तो 'असद्भिदानमनृतम्' सूत्र निरर्थक हो जायगा। अथवा मोक्ष-मार्ग के उपदेश तथा मोक्ष-मार्ग का ही अभाव हो जायगा।

शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥ (ध.१/१०)

अर्थ – शब्द से पद की सिद्धि होती है, पद की सिद्धि से उसके अर्थ का निर्णय होता है, अर्थ-निर्णय से तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से परम कल्याण होता है ।

- यदि स्वस्वामी-सम्बन्ध यथार्थ न माना जाय तो 'अदत्तादानं स्तेयम्' यह सूत्र निरर्थक हो जायगा, क्योंकि जब कोई स्वामी ही नहीं तो आहारादिक दान देने का किसी को अधिकार भी नहीं रहेगा । अतः दान, दातार, देय और पात्र सभी का लोप हो जायगा । इससे मोक्षमार्ग का भी अभाव हो जायगा ।
- पति-पत्नी सम्बन्ध यथार्थ न माना जाय तो स्वदार-सन्तोष व्रत तथा पर-स्त्री-त्याग व्रत का अभाव हो जायगा ।

इस प्रकार उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय का विषय कथंचित् यथार्थ है, सर्वथा अयथार्थ नहीं है । यदि सर्वथा, एकान्त से अनुपचरित को यथार्थ माना जाय और उपचरित को अयथार्थ मानकर छोड़ दिया जाय तो परज्ञता का विरोध हो जायगा, ऐसा सूत्र १४९ में कहा है ।

॥ इस प्रकार आगम नय का निरूपण हुआ ॥

+ अध्यात्म के नय -

पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते ॥२१४॥

अन्वयार्थ : फिर भी अध्यात्म-भाषा से नयों का कथन करते हैं ।

+ भेद -

तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च ॥२१५॥

अन्वयार्थ : नयों के मूल भेद दो हैं- एक निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय ।

अध्यात्म-नय

+ विषय -

तत्र निश्चयतयोऽपेक्षविजायो, व्यवहारो भेदविषयः ॥२१६॥

अन्वयार्थ : निश्चय नय का विषय अभेद है । व्यवहार नय का विषय भेद है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

गुण और गुणी में तथा पर्याय-पर्यायी आदि में भेद न करके, जो नय वस्तु को ग्रहण करता है वह निश्चयनय है। गुण-गुणी के भेद द्वारा अथवा पर्याय-पर्यायी के भेद द्वारा, जो नय वस्तु को ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है । गाथा ४ में कहा गया कि निश्चय नय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और व्यवहार नय का हेतु पर्यायार्थिक नय है ।

+ निश्चय-नय के प्रकार -

तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च ॥२१७॥

अन्वयार्थ : उनमें से निश्चय नय दो प्रकार का है -- १. शुद्धनिश्चय, २. अशुद्धनिश्चय ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

शुद्ध-निश्चयनय का विषय शुद्ध-द्रव्य है । अशुद्ध-निश्चयनय का विषय अशुद्ध-द्रव्य है ।

+ शुद्धनिश्चय-नय -

तत्र निरूपाधिकगुणगुण्यभेद विषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति ॥२१८॥

अन्वयार्थ : उनमें से जो नय कर्मजनित विकार से रहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है, वह शुद्धनिश्चय नय है । जैसे -- केवलज्ञान आदि स्वरूप जीव है । अर्थात् जीव केवलज्ञानमयी है, क्योंकि ज्ञान जीव-स्वरूप है ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

इस शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा जीव के न बंध है, न मोक्ष है और न गुणस्थान आदि हैं ।

बंधश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि । यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो भवति तदा सर्वदैव बंध एव, मोक्षा नास्ति । (वृ.द्र.सं.५७टी.)

अर्थ – शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा बंध ही नहीं । इसी प्रकार शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा बंधपूर्वक मोक्ष भी नहीं है। यदि शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा बंध होवे तो सदा ही बंध होता रहे, मोक्ष ही न हो ।

णवि होदि अप्पमन्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥स.सा.६॥
ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्ति दंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

अर्थ – शुद्ध-निश्चय नय की अपेक्षा जीव प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं है ।
सद्भूतव्यवहार नय से जीव के चारित्र, दर्शन और ज्ञान कहे गये हैं । शुद्धनिश्चय नय से
जीव के न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है ।

इस प्रकार का अभेद शुद्ध-निश्चय नय का विषय है ।

+ अशुद्ध निश्चय-नय -

सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति ॥२१९॥

अन्वयार्थ : जो नय कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह अशुद्धनिश्चय नय है । जैसे -- मतिज्ञानादि स्वरूप जीव ।

पं-रत्नचन्द्र-मुख्तार :

अशुद्ध निश्चयनय संसारी जीव को गुण और गुणी में अभेद दृष्टि से ग्रहण करता है, क्योंकि संसारी जीव कर्मजनित विकार सहित होता है । संसारी जीव में 'मतिज्ञान' ज्ञान-गुण की विकारी अवस्था है । अतः निश्चयनय मतिज्ञान और संसारी जीव को अभेद रूप से ग्रहण करता है । जैसे -- मतिज्ञानमयी जीव । क्योंकि, ज्ञान जीवस्वरूप है ।

शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहार है, ऐसा समयसार में कहा गया है --

ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत्संश्लेषसंबंधो भवतु नचाभ्यंतराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति ? नैवं, द्रव्यकर्मबंधापेक्षया योसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्य-ज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते । वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चया-पेक्षया पुनरशुद्धनिश्चययोपि व्यवहार एवेति भावार्थः ॥स.सा. ५७.टी॥

अर्थ – यह शंका की गई कि वर्णादि तो बहिरंग हैं, इनकी साथ आत्मा का क्षीर-नीरवत् संश्लेष संबंध हो किन्तु अभ्यन्तर में उत्पन्न होने वाले रागादि का आत्मा के साथ व्यवहारनय से संश्लेष सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि रागादि का सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनय से है ? आचार्य समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है, द्रव्य-कर्म बंध की अपेक्षा वह तो असद्भूत व्यवहारनय है, उस व्यवहारनय की अपेक्षा तरतमता दिखलाने के

लिये रागादि का सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनय से कह दिया गया । वास्तव में शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहार है ।

यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्व-कालमचेतनानि । अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मपेक्षया-भ्यन्तररागाद्यश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्ध-निश्चयापेक्षया व्यवहार एव । इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनय विचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं । (स.सा.६८टी.)

अर्थ – रागादि यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से चेतन है तथापि शुद्ध निश्चयनय से नित्य सर्वकाल अचेतन हैं । यद्यपि द्रव्य-कर्म की अपेक्षा आभ्यन्तर रागादि चेतन है ऐसा माना गया है और निश्चय संज्ञा को प्राप्त हैं तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वस्तुतः अशुद्ध निश्चयनय व्यवहार ही है । निश्चय नय और व्यवहारनय के विचार काल में यह व्याख्यान सर्वत्र जान लेना चाहिये ।

द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्ध-निश्चयापेक्षया अचेतनान्येव । यतः कारणादशुद्धनिश्चयोपि शुद्ध-निश्चयापेक्षया व्यवहार एव । अयमत्र भावार्थः । द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन । स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहारएवेति । (स.सा.११५.टी.)

अर्थ – द्रव्य-कर्म अचेतन हैं, भाव-कर्म चेतन हैं तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा भाव-कर्म अचेतन हैं । इसलिये शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय व्यवहार ही है । आत्मा द्रव्य-कर्मों का कर्ता व भोक्ता है, यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है और रागादि का भोक्ता और कर्ता है, यह अशुद्ध निश्चयनय का विषय है । वह अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है ।

अतः समयसार आदि ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार का यथार्थ अभिप्राय जानकर अर्थ करना चाहिये क्योंकि, कहीं-कहीं पर असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा सद्भूतव्यवहार को भी निश्चय कह दिया गया है । जैसे, व्यवहार-षट्कारक असद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा हैं और निश्चय-षट्कारक सद्भूत-व्यवहार नय की अपेक्षा हैं क्योंकि निश्चयनय में षट्कारक को भेद नहीं है ।

+ व्यवहारनय के प्रकार -

व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च ॥२२०॥

अन्वयार्थ : सद्भूतव्यवहार नय और असद्भूतव्यवहार नय के भेद से व्यवहारनय दो प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

एक सत्ता वाले पदार्थों को जो विषय करे वह सद्भूत व्यवहारनय है और भिन्न सत्ता वाले पदार्थों को जो विषय करे वह असद्भूत व्यवहारनय है ।

+ सद्भूत व्यवहार-नय -

तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः ॥२२१॥

अन्वयार्थ : उनमें से एक वस्तु को विषय करने वाली सद्भूतव्यवहार नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जैसे वृक्ष एक है, उसमें लगी हुई शाखायें यद्यपि भिन्न हैं तथापि वृक्ष ही हैं । उसी प्रकार सद्भूत व्यवहारनय गुण / गुणी को भेद करके कथन करता है । गुण-गुणी का संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद है किन्तु प्रदेश / सत्ता भिन्न नहीं है इसलिये एक वस्तु है । उस एक वस्तु में गुण-गुणी का संज्ञादि की अपेक्षा भेद करना सद्भूत व्यवहारनय का विषय है । जैसे -- जीव के ज्ञान, दर्शनादि ।

+ असद्भूत व्यवहार-नय -

भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः ॥२२२॥

अन्वयार्थ : भिन्न वस्तुओं को विषय करने वाला असद्भूतव्यवहार नय है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

जैसे एक स्थान पर भेड़ें तिष्ठती हैं परन्तु पृथक्-पृथक् हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न सत्ता वाले पदार्थों के सम्बन्ध को विषय करने वाला असद्भूतव्यवहार है । जैसे -- ज्ञान, ज्ञेय पदार्थों को जानता है । अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध, वाच्य-वाचक सम्बन्ध आदि सब सम्बन्ध असद्भूत व्यवहारनय के विषय हैं ।

+ सद्भूत व्यवहार-नय -

तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात् ॥२२३॥

अन्वयार्थ : उपचरित और अनुपचरित के भेद से सद्भूतव्यवहार नय दो प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

सद्भूत व्यवहारनय के दो भेद हैं -- उपचरित-सद्भूत-व्यवहार नय और अनुपचरित-सद्भूत व्यवहारनय । सूत्र २२४ व २२५ में क्रमशः इनका स्वरूप कहा जायगा ।

+ उपचरित सद्भूत व्यवहार-नय -

तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयः उपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः ॥२२४॥

अन्वयार्थ : उनमें से, कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी के भेद को विषय करने वाला उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय है । जैसे -- जीव के मति-ज्ञानादिक गुण ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

अशुद्ध-द्रव्य में गुण-गुणी का भेद कथन करने वाला उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय है । अशुद्ध-द्रव्य में गुण-गुणी का, प्रदेशत्व की अपेक्षा, अभेद कथन करना अशुद्ध निश्चयनय का विषय है, किन्तु संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद कथन करना उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का विषय है । दोनों ही कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से वास्तविक हैं । इनमें से किसी का भी एकान्त ग्रहण करने से वस्तु-स्वरूप का अभाव हो जायगा, क्योंकि वस्तु भेदाभेदात्मक, अनेकान्तमयी है ।

+ अनुपचरित सद्भूत व्यवहार-नय -

निरूपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः ॥२२५॥

अन्वयार्थ : उपाधिरहित अर्थात् कर्मजनित विकार रहित जीव में गुण और गुणी के भेदरूप विषय को ग्रहण करने वाला अनुपचरित-सद्भूतव्यवहार है । जैसे -- जीव के केवलज्ञानादि गुण ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

शुद्ध गुण-गुणी में भेद कथन करना अनुपचरित-सद्भूत व्यवहारनय है । प्रदेशत्व की अपेक्षा शुद्ध गुण-गुणी में अभेद कथन करना शुद्ध निश्चयनय का विषय है किन्तु संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद कथन करना अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय का विषय है । अपनी अपनी अपेक्षा दोनों ही कथन यथार्थ हैं । इनमें से किसी एक का भी एकान्त ग्रहण करने से वस्तु-स्वरूप का लोप हो जायगा क्योंकि वस्तु भेदाभेदात्मक, अनेकान्तमयी है ।

+ असद्भूत व्यवहार-नय के प्रकार -

असद्भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात् ॥२२६॥

अन्वयार्थ : उपचरित और अनुपचरित के भेद से असद्भूतव्यवहार नय भी दो प्रकार का है ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

असद्भूत व्यवहारनय के दो भेद हैं - १. उपचरितासद्भूत व्यवहारनय, २. अनुपचरितासद्भूत व्यवहारनय । इनका स्वरूप क्रमशः सूत्र २२७ व २२८ में कहा जायगा ।

+ उपचरितासद्भूत व्यवहार-नय -

तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनमिति ॥२२७॥

अन्वयार्थ : उनमें से संश्लेष-सम्बन्ध रहित, ऐसी भिन्न वस्तुओं का परस्पर में सम्बन्ध ग्रहण करना उपचरितासद्भूतव्यवहार नय का विषय है । जैसे -- देवदत्त का धन ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

देवदत्त और धन भिन्न-सत्ता वाले द्रव्य हैं । इन दोनों का संश्लेष सम्बन्ध भी नहीं है । किन्तु, स्व-स्वामी सम्बन्ध है । देवदत्त धन का स्वामी है और धन उसका स्व है । देवदत्त को अधिकार है कि वह अपने धन को तीर्थ-वन्दना, जिन-मन्दिर-निर्माण तथा दान आदिक धर्म-कार्यों में व्यय करे या अपने भोगोपभोग में व्यय करे । देवदत्त के धन को व्यय करने का देवदत्त के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष को अधिकार नहीं है । देवदत्त के दिये बिना यदि देवदत्त के धन को कोई अन्य पुरुष ग्रहण करता है तो वह चोर है, क्योंकि 'अदत्तादानं स्तेयम्' ऐसा आर्ष-वाक्य है । इसी प्रकार ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध भी इस उपचरितासद्भूत व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि ज्ञान का स्व-चतुष्टय भिन्न है और ज्ञेय-द्रव्यों का स्वचतुष्टय भिन्न है । ज्ञान और ज्ञेय में संश्लेष सम्बन्ध भी नहीं है तथापि ज्ञान ज्ञेयों को जानता है और ज्ञेय ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं । अतः ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध यथार्थ है जो कि उपचरितासद्भूत व्यवहारनय का विषय है । यदि ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध यथार्थ न हो तो सर्वज्ञता का अभाव हो जायगा । इसी प्रकार अन्य सम्बन्धों के विषय में भी जानना चाहिये ।

+ अनुपचरितासद्भूत व्यवहार-नय -

संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य शरीरमिति ॥२२८॥

अन्वयार्थ : संश्लेष सहित वस्तु के सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुपचरितासद्भूतव्यवहार नय है, जैसे -- जीव का शरीर इत्यादि ।

पं-रत्नचन्द-मुख्तार :

यद्यपि जीव का स्व-चतुष्टय भिन्न है और शरीर का स्व-चतुष्टय भिन्न है, तथापि जीव और शरीर का संश्लेष-सम्बन्ध है । जिस शरीर को धारण करे है, संकोच या विस्तार होकर आत्म-प्रदेश उस शरीर-प्रमाण व आकाररूप हो जाय हैं । कहा भी है --

अणुगुरूदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा। (वृ.द्र.सं.)

अर्थ – संकोच तथा विस्तार से यह जीव अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है ।

आत्मा और शरीरादिकरूप पुद्गल के एक क्षेत्रावगाहरूप बंधान है, तहाँ आत्मा हलन, चलन आदि किया करना चाहे और शरीर तिस शक्तिकर रहित है तो हलन, चलन किया न होय सके । इसी प्रकार शरीर में हलन, चलन शक्ति पाइये है और आत्मा की इच्छा हलन, चलन की न होय तो भी हलन, चलन न होय सके । यदि शरीर बलवान होय हालै चालै तो उसके साथ बिना इच्छा भी आत्मा हालै, चालै । जैसे कांपनी वायु की रूग्ण अवस्था में बिना इच्छा भी आत्मा हालै चालै है । और अधरंग रोग में इच्छा होते हुए भी हलन, चलन क्रिया नहीं होती है ।

शरीर, वचन, मन और प्राणापान-यह पुद्गलों का उपचार है । 'शरीर वाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलनाम् ॥त.सू.५/१९।' द्वारा ऐसा कहा भी गया है । शरीर, वचन और मन की क्रिया योग है और वही आस्रव है । कहा भी है --

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥त.सू.६/१॥ स आस्रवः ॥६/२॥

इस प्रकार भिन्न, भिन्न चतुष्टय वाले जीव और शरीर का संश्लेष-संबंध है । यदि यह संश्लेष सम्बन्ध न माना जाय अथवा, जीव का शरीर न माना जाय तो शरीर के वध से हिंसा के अभाव का प्रसंग आ जायगा । कहा भी है --

आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः ।
कायवधे इंत कथं तेषां संजायते हिंसा ॥अ.श्रा.६/२१॥

अर्थ – जो विवेक रहित आत्मा का और शरीर का सर्वथा भेद कहे हैं, तिन के मत में शरीर के वध होते संते हिंसा कैसे होय ? यह बड़े आश्चर्य की बात है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने उपर्युक्त कथन को समयसार गाथा ४६ की टीका में निम्न शब्दों द्वारा कहा है --

तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्त्वसंस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमदेनेन हिंसाऽभावादभवत्येव बंधस्याभावः । तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेष मोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः । (स.सा.४६.टी)

अर्थ – यदि इस असद्भूत व्यवहारनय को यथार्थ न माना जाय और परमार्थनय (शुद्धनिश्चय नय) को सर्वथा माना जाये तो निम्न दोष आयेंगे -- १. परमार्थनय जीव को शरीर से भिन्न कहता है, यदि उसका हो एकान्त किया जाय तो निःशंकपने से त्रस,

स्थावर जीवों का घात करना सिद्ध हो सकता है। जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है उसी तरह जीवों के शरीर को मारने में भी हिंसा सिद्ध नहीं होगी किन्तु हिंसा का अभाव ठहरेगा-तब उनके घात होने से बंध होने का भी अभाव ठहरेगा । २. उसी तरह रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधता है और उसको छुड़ाना है-ऐसा कहा गया है। परमार्थ (निश्चय नय) से राग, द्वेष, मोह से जीव को भिन्न बतलाने से मोक्ष के उपाय का (मोक्षमार्ग का) उपदेश व्यर्थ हो जायगा- तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा । (समयसार गाथा ४६ टीका)

अतः व्यवहारनय से भी वस्तु-स्वरूप का कथन किया गया है ।

अतः असद्भूत व्यवहारनय का विषय 'जीव का शरीर' कहना यथार्थ है ।

॥ इस प्रकार पदार्थ के सरल-बोध के लिये श्रीमद्वेवसेनाचार्य विरचित आलापपद्धति समाप्त हुई ॥

तेतीस व्यंजनाए सत्तावीसं स्वरा तहा भणिया ।
चत्तारिय योगवाहा चउसठ्ठी मूल व्रण्णाउ ॥

अर्थ – ३३ व्यंजन अक्षर हैं, २७ स्वर हैं और ४ योगवाह हैं । इस प्रकार ६४ मूल वर्ण हैं ।

परिशिष्ट १

अनेकान्त व स्याद्वाद

भावः स्यादस्तिनास्तीति कुर्यान्निर्दोषमेव तं ।
फलेन चास्य संबन्धो नित्यानित्यादिकं तथा ॥

अर्थ – द्रव्य कथंचित् अस्ति है, कथंचित् नास्ति है, इस प्रकार की मान्यता निर्दोष है । फलितार्थ से उसी प्रकार कथंचित्-नित्य कथंचित्-अनित्य इत्यादिक से सम्बन्ध जोड़ना चाहिये ।

स्यादस्ति । स्यात् केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? स्वस्वरूपेणास्तित्वमिति । तर्हि स्याच्छब्देन किं । यथा स्वस्वरूपेणा-स्तित्वं तथा पररूपेणात्यस्तित्वं माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यान्नास्तीति पररूपेणैव कुर्यात् स्यादस्तित्वाददोषतास्य फलं चास्यानेकस्वभावा-धारत्वं नास्तिस्वभावस्य तु संकरादिदोषरहितत्वं ।

स्यान्नित्य । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायो ? द्रव्य-रूपेण नित्य इति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा द्रव्यरूपेण नित्यत्वं तथा पर्यायरूपेण नित्यत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादनित्य इति पर्यायरूपेणैव कुर्यात् । स्यान्नित्यत्वाददोषता सफलं चास्य चिर-कालावस्थायित्वं । अनित्यस्वभावस्य तु कर्मादानविभोचनादिकं स्वहेतुभिः ।

स्यादेकः । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? सामान्य- रूपेणैकत्वमिति । तर्हि स्याच्छब्देन किं यथा सामान्यरूपेणैकत्वं तथा विशेषरूपेणाप्येकत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादनेक इति विशेष-रूपेणैव कुर्यात् । स्यादेकत्वाददोषतास्य फलं चास्य सामान्यत्वसमर्थः । अनेकस्वभावस्य त्वनेकस्वभावदर्शकत्वं ।

स्याद् भेदः स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? सद्भूतव्यवहारेण भेद इति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा सद्भूत-व्यवहारेण भेदस्तथा द्रव्यार्थिकेनापि माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादभेद इति द्रव्यार्थिकेनैव कुर्यात् । स्याद् भेदत्वाददोषतास्य फलं चास्य व्यवहारसिद्धिः । अभेदस्वभावस्य तु परमाथसिद्धिः ।

स्याद् भव्यः । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? स्वकीय स्वरूपेण भवनादिनि । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा स्वकीयरूपेण भवनं तथा पररूपेण भवनं माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादभव्य इति पररूपेणैव कुर्यात् । स्याद् भव्यत्वाददोषतास्य फलं चास्य सवपर्यायः परिणामित्वं । अभव्यस्य तु परपर्यायित्यागित्वं ।

स्यात्परमः । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? पारि-णामिकस्वभावत्वेनेति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा पारिणामिकः स्वभावं प्रधानत्वेन परस्वभावत्व तथा कर्मजस्वभावप्रधानत्वेन माभूदिति स्याच्छब्दः । स्याद् विभाव इति कर्मजरूपेणैव कुर्यात् । स्यात्परमत्वाददोषतास्य फलं चास्य स्वभावादचलिता वृत्तिः । विभावस्य तु स्वभावे विकृतिः ।

स्याच्चेतनः । स्यात्केनचिदपि । कोसावभिप्रायः ? चेतनस्व-भावप्रधानत्वेनेति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा स्वभावप्रधानत्वेन चेतनत्वं तथाऽचेतनस्वभावेनापि चेतनत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादचेतन इति व्यवहारेणैव कुर्यात् । स्याच्चेतनत्वाददोषतास्य फलं चास्य कर्मादानं हानिर्वा । अचेतनस्वभावस्य तु कर्मादानमेव ।

स्यान्मूर्तः । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? असद्भूतव्यवहारेण मूर्त इति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथाऽसद्भूत-व्यवहारेण भूर्तत्वं तथा परमभावेन मूर्तत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादमूर्त इति परमभावेनैव कुर्यात् । स्यान्मूर्तत्वाददोषतास्य फलं चास्य कर्मबन्धः । अमूर्तस्य तु स्वभावापरित्यागित्वं ।

स्यादेकप्रदेशः । स्यामत्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायो ? भेदकल्पना निरपेक्षेणेति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा भेदकल्पना निरपेक्षेणैकप्रदेशत्वं तथा व्यवहारणाप्येकप्रदेशत्वं माभूदिति स्याच्छ-ब्दः । स्यादनेकप्रदेश इति व्यवहारेणैव कुर्यात् । स्यादेकप्रदेशत्वाद-दोषतास्य फलं चास्य निश्चयादेकत्वसमर्थनं । अनेक प्रदेशस्य तु अनेककार्यकारित्वं ।

स्याच्छुद्धः । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? केवलस्वभावप्रधानत्वेनेति । तर्हि स्याच्छब्देन किं ? यथा केवलस्व-भाव प्रधानत्वेन शुद्धस्वभावत्वं तथा

मिश्रस्वभावप्रधानत्वेन शुद्धत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादशुद्ध इति मिश्रभावेनैघ कुर्यात् । शुद्धत्वाददोषता तस्य फलं चास्य स्वभावावाप्तिः अशुद्धस्वभावस्य तु तद्विपरीता ।

स्यादुपचरितः । स्यात्केनचिदभिप्रायेण । कोसावभिप्रायः ? स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादिति । तर्हि स्याच्छब्देन किं । यथा स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावत्वं तथानुपचारेणप्युपचारत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः । स्यादनुपचरित इति निश्चयादेव कुर्यात् । स्यादुपचरिताद् दोषता तस्य फलं चास्य परज्ञतादयः । अनुपचरित-स्वभावस्य तथापि विपरीतं । (श्री आचार्य देवसेन कृतनयचक्र-सोलापुर से प्रकाशित)

अर्थ –

- स्यात्, किसी अभिप्राय से, द्रव्य अस्तिरूप है, सद्भाव रूप है । वह अभिप्राय क्या है ? स्व-स्वरूप से वह है, यह अभिप्राय है । फिर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार स्व-स्वरूप से है उसी प्रकार पर-स्वरूप से भी है, इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना स्यात् शब्द का प्रयोजन है । कथंचित् पर-स्वरूप से नहीं है, इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिए । कथंचित् अस्तित्व होने से दोष नहीं है । इसका फल अनेक स्वभाव-आधारत्वपना है । इतना विशेष है कि नास्ति-स्वभाव के संकरादि दोष रहितपना है ।
- स्यात् अर्थात् किसी अभिप्राय से द्रव्य नित्य है । वह अभिप्राय क्या है ? द्रव्यरूप से नित्य है, यह अभिप्राय है । फिर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार द्रव्य रूप से नित्य है उसी प्रकार पर्याय रूप से भी नित्य है, इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना स्यात् शब्द का प्रयोजन है । कथंचित् पर्यायरूप से अनित्य है, इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिए । स्यात् या कथंचित् का प्रयोग होने से नित्यता के निर्दोषता है । इसका फल चिरकाल तक स्थायीपना है । किन्तु, अनित्यस्वभाव से तो कर्म-ग्रहण व मोचन निज हेतुओं के द्वारा होते हैं ।
- स्यात् द्रव्य के एकपना है । स्यात् अर्थात् किसी अभिप्राय से । वह अभिप्राय क्या है ? सामान्य रूप से द्रव्य के एकपना है, यह अभिप्राय है । फिर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार सामान्यरूप से द्रव्य के एक-पना है, उसी प्रकार विशेषरूप से द्रव्य के अनेकपना है, इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना स्यात् शब्द का प्रयोजन है । कथंचित् विशेषरूप से अनेकपना है, इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिए । स्यात् या कथंचित् का प्रयोग होने से एकत्व के निर्दोषता है । इसका फल सामान्यपने में समर्थ है । अनेक-स्वभाव से तो अनेकपना है, ऐसा दिखाना है ।

- कथंचित् भेद है । किसी अभिप्राय से अर्थात् सदभूतव्यवहार से, भेद है । स्यात् शब्द से यहाँ क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार सदभूतव्यवहार नय से भेद है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय (निश्चय नय) से भेद न हो, यह स्यात् पद का प्रयोजन है । कथंचित् अभेद है, यह प्रयोग द्रव्यार्थिक नय से करना चाहिए । कथंचित् का प्रयोग होने से भेदपना से निर्दोषता है और इसका फल व्यवहार की सिद्धि है, किन्तु अभेद स्वभाव से परमार्थ की सिद्धि होती है ।
- कथंचित् भव्य है । किसी अभिप्राय से अर्थात् स्वकीय स्वरूप से परिणमन हो सकने से भव्यस्वरूप है । स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार स्वकीयस्वरूप से परिणमन हो सकता है वैसे परकीय रूप से परिणमन हो सके यह यहाँ पर स्यात् शब्द से प्रयोजन है । कथंचित् अभव्य है, यह कथन 'पररूप से परिणमन नहीं होने से' ही करना चाहिए । कथंचित् अभव्यता मानने से इसमें दोष नहीं है और इसका फल स्वकीयरूप से परिणत होना है किन्तु अभव्यता का फल परपर्याय रूप से परिणमन का त्यागपना है ।
- कथंचित् परमस्वभावरूप है । किसी अभिप्राय से अर्थात् परिणामिक भाव से परम-स्वभावरूप है । स्यात् शब्द से यहाँ क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार पारिणामिक भाव से परमस्वरूप है उसी प्रकार कर्म-जनित भाव से परम-स्वभाव न हो । कथंचित् विभावरूप है, यह कर्मजभाव से होता है । कथंचित् परम-स्वभाव होने से दोष नहीं है, इसका फल स्वभाव से अचलित रूप वृत्ति है । किन्तु विभाव का फल स्वभाव में विकृति है ।
- कथंचित् चेतन है । किसी अभिप्राय से अर्थात् चेतन-स्वभाव की प्रधानता से चेतन है । यहाँ स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार चेतन-स्वभाव की प्रधानता से चेतनत्व है, वैसे अचेतनत्व की अपेक्षा न हो, यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है । कथंचित् अचेतन है, यह व्यवहार से कहना चाहिये । कथंचित् चेतनपना होने से इसके दोष नहीं है, इसका फल कर्म की हानि है । किन्तु अचेतनस्वभाव के मानने का फल कर्म का ग्रहण ही है ।
- कथंचित् मूर्त है । किसी अभिप्राय से अर्थात् असदभूत व्यवहारनय से मूर्त है । यहाँ स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जिस प्रकार असदभूत-व्यवहार नय से मूर्त है, वैसे परमभाव से मूर्त न हो, यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है । कथंचित् अमूर्त है, ऐसा परमभाव से कहना चाहिये । कथंचित् मूर्त होने से इसके दोष नहीं है, इसका फल कर्मबंध है । किन्तु अमूर्त मानने का फल स्वभाव का अपरित्याग है ।
- कथंचित् एकप्रदेशी है । किसी अभिप्राय से अर्थात् भेदकल्पना-निरपेक्ष अभिप्राय से एकप्रदेशी है । यहाँ स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जैसे भेद-कल्पना-निरपेक्षता से एक प्रदेशपना है उसी प्रकार व्यवहार से एक प्रदेशपना न हो, यह

स्यात् शब्द का प्रयोजन है । कथंचित् अनेक-प्रदेशी है, ऐसा व्यवहारनय से ही मानना चाहिये । कथंचित् एक-प्रदेशपना होने से दोष नहीं है । और इसका फल निश्चय से एकपने का समर्थन है । किन्तु अनेक-प्रदेशत्व का फल अनेक-कार्यकारित्व है ।

- कथंचित् शुद्ध है । किसी अभिप्राय से अर्थात् केवल-स्वभाव की प्रधानता से शुद्ध-स्वभाव है । स्यात् शब्द से यहाँ क्या प्रयोजन है ? जैसे केलव-स्वभावपने से शुद्धता है वैसे मिश्र-स्वभावपने से शुद्धता न हो इसलिये स्यात् शब्द है । कथंचित् अशुद्ध है, ऐसा प्रयोग मिश्र-स्वभाव से ही करना चाहिये । कथंचित् शुद्धपना होने से इसके निर्दोषता है और इसका फल स्वभाव की प्राप्ति है, किन्तु अशुद्ध स्वभाव का फल स्वभाव की प्राप्ति नहीं है ।
- कथंचित् उपचरित है । किसी अभिप्राय से अर्थात् स्वभाव के भी अन्यत्र उपचार से उपचरित-स्वभाव है । यहाँ पर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है ? जैसे उपचरित नय से अन्यत्र-स्वभाव का उपचार होने से उपचरितपना है, वैसे अनुपचरित-स्वभाव से उपचारपना न हो, यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है । कथंचित् अनूपचरित है, यह निश्चय से समझना चाहिये । कथंचित् उपचरितपन होने से दोष नहीं है । और उसका फल परज्ञता और सर्वज्ञता है । अनुपचरित का फल उससे विपरीत आत्मज्ञता है ।

स्याद्वाद् हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेवमेकस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य । स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति, सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकांतस्त्रभावत्वात् । यदेव तत् तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्व-निष्पादकंपरस्परविरूद्ध शक्तिद्वय-प्रकाशनमनेकांतः ।
(स.सा. आत्मख्याति, स्याद्वादाधिकार)

अर्थ – स्याद्वाद है वह सब वस्तु-स्वरूप के साधने वाला एक निर्बाध अर्हत्सवंश का शासन है । वह स्याद्वाद सब वस्तुओं को 'अनेकांतात्मक' ऐसा कहता है, क्योंकि सभी पदार्थों का अनेक धर्मरूप स्वभाव है । अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है कि जो वस्तु तत् रूप है वही अतत् स्वरूप है, जो सत्स्वरूप है वही वस्तु असत्स्वरूप है, जो वस्तु नित्यरूप है वही वस्तु अनित्यरूप है । इस तरह एक वस्तु में वस्तुपने की उपजाने वाली परस्पर विरूद्ध दो शक्तियों का प्रकाश होता है ।

इससे उस मत का खण्डन हो जाता है जो अनेकान्त व स्याद्वाद का स्वरूप ऐसा मानते हैं कि वस्तु नित्य है, अनित्य नहीं है; एक है, अनेक नहीं है, अभेद है, भेद नहीं है इत्यादि, क्योंकि इससे तो सर्वथा एक धर्म की सिद्धि होती है ।

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वद्वा वयणा ।
जइणाणं पुण वयणं सम्म खु कहंचि वयणादो ॥

अर्थ – परसमयों (अजैनों) का वचन 'सर्वथा' कहा जाने से वास्तव में मिथ्या है और जैनों का वचन 'कथंचित्' कहा जाने से वास्तव में सम्यक् है ।

परिशिष्ट-२

अर्थक्रियाकारित्व

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारा
वाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ।

वस्तु अनुवृत्त (सामान्य अथवा गुण) और व्यावृत्त (पर्याय) रूप से दिखाई देती है तथा पूर्व पर्याय का परिहार (नाश) और स्थिति (ध्रौव्य) रूप परिणमन से अर्थक्रिया की उत्पत्ति होती है ।

अर्थक्रियाविरोधादिति=कार्यकर्तृत्वायोगात्

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप अर्थ-क्रिया होती है ।

त्रिलक्षणाभावतः अवस्तुनि परिच्छेदलक्षणार्थ क्रियाभावात् ।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप लक्षणत्रय का अभाव होने के कारण अवस्तु स्वरूप जो ज्ञान उसमें परिच्छिति रूप अर्थ-क्रिया का अभाव है । जैसे-जैसे ज्ञेयों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप परिणमन होता है उस ही के अनुसार ज्ञान में भी जानने की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहता है । जो पर्याय प्रति-क्षण उत्पन्न होती है उस पर्याय को ज्ञान सद्भाव रूप से जानता है । जो उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुकी हैं या अनुत्पन्न हैं उनको अभाव रूप से जानता है, अन्यथा ज्ञेयों के अनुकूल ज्ञान में परिणमन नहीं बन सकता ।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है-

जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण ।
बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए ॥का.अ.२२५॥
एयंतं पुणु दव्वं कज्जं ण करेदि लेसमेत्त पि ।
जे पुणु ण करदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ॥२२६॥

टीका-कार्य न करोति, तुच्छमपि प्रयोजनं न विद् घाति ।

अर्थ – जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही नियम से कार्यकारी है, क्योंकि लोक में बहुत धर्मयुक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है । एकान्त रूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य नहीं करना । और जो कार्य नहीं करता उसको द्रव्य कैसे कहा जाय ?

कार्य नहीं करता अघात् किंचित् भी प्रयोजनवान् नहीं है ।

अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणं निष्पत्तिर्न युज्येत् । (लघीयस्त्रय/२२)

प्रयोजन निष्पत्ति को अर्थ-क्रिया कहते हैं । जैसे, ज्ञान का प्रयोजन जानना है, अतः ज्ञान का परिच्छिन्ति रूप जो परिणमन है वही ज्ञान की अर्थक्रिया है । अपने स्वरूप को न छोड़कर परिणमन करना द्रव्य का प्रयोजन है, क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से ही द्रव्य की सत्ता है। अतः द्रव्य में जो परिणमन रूप क्रिया होती है वह द्रव्य की **अर्थ** – क्रिया है।

श्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर लिखते हैं -- अर्थक्रियाकारित्व का अर्थ है -- जिस पदार्थ को जिस रूप से जाना है, उस रूप से उसका कार्य ही होना । जैसे जल का जल रूप जाना, यहाँ जल में स्नान, अवगाहन आदि क्रिया होती है वह जल का अर्थ-क्रिया-कारित्व है । अर्थ-क्रिया-कारित्व से अपने द्वारा ज्ञात पदार्थ का यथार्थ निर्णय हो जाता है और जहाँ अर्थ-क्रिया-कारित्व नहीं होता, वही वस्तु की यथार्थता का निर्णय नहीं होता ।

श्री पं० जीवंधर जी, इन्दौर लिखते हैं -- प्रत्येक सद्भूत पदार्थ जो भी कार्य करता है या परिणति करता है वही उसकी अर्थक्रिया है ।

अनेक-क्रिया-कारित्व

अनेका-क्रिया-कारित्व :- एक पदार्थ सहकारी कारणों के वैविध्य से अनेक कार्यों का संपादन करता है, अतः वह अनेक-क्रिया-कारित्व कहा जाता है । जैसे -- एक ही दीपक एक ही समय में अन्धकार का नाश करता है, प्रकाश फैलाता है, बत्ती का मुख जलाता है, तेल का शोषण करता है, घूम्र रूपी लालिमा को उत्पन्न करता है । इन अनेक कार्यों का निर्यापक होने से वह अनेक-क्रिया-कारित्व माना जाता है । (श्री पं० जीवंधर जी, इन्दौर)

परिशिष्ट-४

संकर आदि आठ दोष

सूत्र १२७ य उसके टिप्पण में संकर आदि आठ दोषों का वर्णन है । उन आठ दोषों का विशेष कथन 'प्रमेयरत्नमाला' के अनुसार निम्न प्रकार है --

भेदाभेदं योर्विधिनिषेधयोरेकत्राभिन्ने वस्तुन्यसम्भवः शीतोष्ण-स्पर्शयोर्वेति १।
 भेदस्यान्यदधिकरणमभेदस्य चान्यदिति वैयधि-करण्यम् २। यमात्मानं पुरोघाय भेदो यं च
 समाधित्याभेदः, तावा-त्मनौ भिन्नौ चाभिन्नौ च । तत्रापि तथापरिकल्पनादनवस्था ३। येन
 रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्चेति सक्ङ्करः ४। येन भेदस्तेनाभेदो येनाभेदस्तेन भेद इति
 व्यतिकरः ५। भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुनो-ऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः ६।
 ततश्चाप्रतिपत्तिः ७। ततोऽभावः ८।

अर्थ –

- भेद और अभेद ये दोनों विधि और निषेध स्वरूप हैं, इसलिये उनका एक अभिन्न वस्तु में रहना असम्भव है, जैसे कि शीत और उष्ण स्पर्श का एक साथ वस्तु में रहना असम्भव है । इस प्रकार जीवादि पदार्थों को सामान्य-विशेषात्मक मानने पर विरोध दोष आता है ॥१॥
- भेद का आधार अन्य है और अभेद का आधार अन्य है, इसलिये इन दोनों का एक आधार मानने से वैयधिकरण्य दोष भी आता है ॥२॥
- जिस स्वरूप को मुख्य करके भेद कहा जाता है और जिस स्वरूप का आश्रय लेकर, अभेद कहा जाता है, वे दोनों स्वरूप भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं । पुनः उनमें भी भेद, अभेद की कल्पना से अनवस्था दोष प्राप्त होता है ॥३॥
- जिस रूप से भेद है, उस रूप से भेद भी है, अभेद भी है; अतः संकर दोष प्राप्त होता है ॥४॥
- जिस अपेक्षा से भेद है, उसी अपेक्षा से अभेद है और जिस अपेक्षा से अभेद है उसी अपेक्षा से भेद है, इस प्रकार व्यतिकर दोष आता है ॥५॥
- वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने पर उसका असाधारण आकार से निश्चय नहीं किया जा सकता, अतः संशय दोष आता है ॥६॥
- संशय होने से उसका ठीक ज्ञान नहीं हो पाता, अतः अप्रतिपत्ति नामक दोष आता है ॥७॥
- ठीक प्रतिपत्ति के न होने से अभाव नाम का दोष भी आता है ॥८॥

निरपेक्ष, एकान्त दृष्टि में ये आठों दोष सम्भव हैं । सापेक्ष, अनेकान्त दृष्टि में इन आठ दोषों में से एक दोष भी सम्भव नहीं है ।

जो गुण और गुणी (द्रव्य) में सर्वथा भेद मानते हैं, उनके मत में उपर्युक्त आठों दोष संभव हैं, जो गुण और गुणी का सर्वथा अभेद मानते हैं, उनके मत में उपर्युक्त आठों दोष सम्भव हैं तथा जो भेद और अभेद को परस्पर सापेक्ष नहीं मानते हैं उनके मत में भी उपर्युक्त आठों दोष सम्भव हैं । किन्तु, भेद और अभेद को सापेक्ष मानने वाले स्याद्वादियों के मत में उक्त आठ दोष सम्भव नहीं हैं क्योंकि, वस्तु-स्वरूप अनेकान्तात्मक है ।